प्रकाशक
मंत्री— श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
रांगड़ी मोहल्ला बीकानेर (राजस्थान)

●

चतुर्थ संस्करण १९६४

●

मूल्य
दो रुपये

●

मुद्रक
अशोकचन्द्र
पवन आर्ट प्रेस
बीकानेर (राजस्थान)

प्राक्कथन

सत्यवादी महाराज हरिश्चन्द्र और उनकी अनुगामिनी महारानी तारा का कथानक नित-नूतन है और जब तक सत्य, न्याय-नीति, सदाचार आदि नैतिक गुण और तदनुसार जीवन-यापन करने वाले मनुष्य रहेंगे तब तक यह कथानक चिरजीवी रहेगा।

ससार में दो तरह के मनुष्य होते हैं। एक तो वे, जिनका नाम सुनकर हृदय काप उठता है, रोमाच हो आता है और लोग उनसे घृणा करते हैं। इसके विपरीत दूसरे वे हैं जो पर-दुखकातर, समदृष्टि, सदाचारी एव धार्मिक आचार-विचारवान और अपने वचन पर दृढ रहने वाले होते हैं। ऐसे मनुष्य जीवितावस्था मे सबको प्रसन्न रखते है और मरने पर— उनकी मृत्यु को हजारो वर्ष बीत जाने पर— भी लोग उनको आदर-समान के साथ स्मरण करते हैं। उनके चरित्र को पढते-सुनते और आदर्श पुरुप मानकर अपना जीवन भी उनके अनुकूल बनाने की प्रेरणा लेते हैं।

महाराज हरिश्चन्द्र और महारानी तारा ऐसे ही महापुरुषो में से एक हैं। यद्यपि समय की अपेक्षा उनके और हमारे बीच काफी बडा अतर आ गया है। लेकिन वे अपने आदर्शमय जीवन से आज भी हमारे बीच विद्यमान हैं।

इस कथानक के प्रत्येक पात्र का अपना-अपना व्यक्तित्व है और प्रत्येक मानवीय भावों को साकार रूप में हमारे समक्ष उपस्थित कर देता है। महाराज हरिश्चन्द्र की सत्यवादिता, महारानी तारा की कर्तव्य-परायणता और कुमार रोहित की निर्भीकता आबाल-वृद्ध सभी को चिन्तन और मनन का अवसर देती है एव उनका कथानक साहित्य की अमर विभूति बन गया है।

लेकिन हमारे देश का यह दुर्भाग्य भी है कि हम अपने आदर्शों की अवहेलना कर, पाश्चात्य का अन्धानुकरण कर भारतीय-संस्कृति को नष्ट भ्रष्ट करने के प्रयत्न कर रहे हैं। नए-नए वादों के प्रयोग कर साहित्य के मूलाधार से दूर होते जा रहे हैं। यदि यही परंपरा चालू रही तो यह निश्चित है कि भारतीय साहित्य का नामशेष हो जाएगा। अतः साहित्यकारों का यह दायित्व है कि वे अपने विचारों को साहित्य पर बलात् लादने का प्रयत्न न करें।

प्रस्तुत पुस्तक श्रीमज्जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलाल जी म. सा. के व्याख्यानों के आधार पर संपादित की गई है। जहां तक हो सका है आचार्य श्री जी के साधुभाषा में होने वाले व्याख्यानों के भावों को सुरक्षित रखा है। फिर भी प्रमादवश भाव या भाषा सम्बन्धी कोई भूल रह गई हो तो उसके उत्तरदायी संग्राहक व संपादक हैं और ज्ञात होने पर आगामी संस्करण में सुधार हो जाएगा।

पुस्तक में अनेक त्रुटियां हो सकती हैं लेकिन आशा है कि विज्ञ पाठक इन्हें सुधार लेंगे और भविष्य में पुनरावृत्ति न होने देने के लिए संकेत कर अनुगृहीत करेंगे। अल्पज्ञ सदैव क्षमा के पात्र रहे हैं अतः विद्वानों से यही आकांक्षा है कि वे अपने सुझावों से अवगत करायें जिससे महापुरुषों के चरित्र का आदर्श गलत रूप में प्रस्तुत न हो सके।

—संपादक

प्रकाशकीय

पौराणिक कथा-साहित्य के आदर्शों मे विश्वास करके यदि हम तदनुसार जीवन-व्यवहार करें तो हमे एक ऐसा प्रकाश और आकर्षण दिखलाई देगा जो सत्य-शिव-सुन्दर के रूप मे सवको प्रिय और कल्याणकारी है। इन कथाओ मे जीवन की शिक्षा देने वाली वहुत-सी वातें हैं। जिनका प्रभाव स स्कृति और नीति दोनो दृष्टि से सर्वोत्तम रहता है। जो साहित्य जीवन को उच्च और आदर्शमय वनाने की प्रेरणा देता है वह शाश्वत और नित-नूतन माना जाता है।

प्रस्तुत पुस्तक 'हरिश्चन्द्र-तारा' का कथानक साहित्य की इसी भावना का द्योतक है और श्री जैन हितेच्छु श्रावक मडल रतलाम द्वारा पहले इसके तीन-तीन सस्करणो के प्रकाशित हो जाने पर भी पाठको मे इसके पढने की आकाक्षा आज भी दिखलाई देती है। अतएव 'श्री गणेश स्मृति ग्रन्थमाला' के उद्देश्यानुसार हम इसे स शोधित, परिवर्तित और परिवर्धित चतुर्थ स स्करण के रूप मे पुन पाठको के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं।

पुस्तक के कथानक, आदर्श और शिक्षा से सभी परिचित हैं। फिर भी पाठको ने इसे पढ़कर आत्मोन्नति की ओर लक्ष्य देने का प्रयास किया तो हम अपने प्रयत्नों को सार्थक समझेंगे और इसी मे पुस्तक की उपयोगिता एवं लोकप्रियता गर्भित है। इत्यलम्।

निवेदक

जुगराज सेठिया, मन्त्री

सुन्दरलाल तातेड़, सहमन्त्री

महावीरचद धाड़ीवाल, सहमंत्री

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ, वीकानेर

श्री गणेश स्मृति ग्रन्थमाला के सहायक

श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा कलकत्ता ५०००)

(स्व आचार्य श्री गणेशलालजी म सा के जीवन चरित्र हेतु)

श्रीमती भूरीबाईजी सुराना, रायपुर ५००)

श्रीमती उमरावबाईजी मूथा, मद्रास ५००)

अनुक्रमणिका

मोही पति विचारशील पत्नी ९
रानी का निश्चय १६
प्रणपूर्ति के लिए प्रयत्न २३
एकाकी की व्याकुलता २८
सुख-निद्रा का अनुभव ३३
कर्तव्योन्मुख राजा का राज्य-शासन ४०
इन्द्र द्वारा गुण-गान ४३
षडयन्त्र का बीजारोपण ५०
जब राजर्षि कुपित हुए ५७
दण्ड देने का अधिकार राजा को है ६०
याचना पूरी करना राजधर्म है ७
मिलन ७८
दुराग्रह टस से मस न हुआ ८८
प्रणपूर्ति की राह पर ९५
विदाई-सदेश ९९
अवध को अन्तिम प्रणाम १०६
काशी मे ११७
ऋण-मुक्ति का उपाय १२४
आत्म-विक्रय १३४

ब्राह्मण के घर में तारा १५
भंगी के दास राजा १२९
स्वावलम्बी रोहित १६१
एक और आघात १७१
शोकार्त तारा १७७
हमें सहना ही होगा १८६
अन्तिम कसौटी १९४
विश्वामित्र का आत्म-निरीक्षण २ १
श्मशान में समारोह २ ४
पुनरागमन और राज्य-शासन २१४
आत्मकल्याण के मार्ग पर २२१
उपसंहार २२७

श्री आचार्य विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार, जयपुर

१. मोही पति : विचारशील पत्नी

अवध के हरे-भरे प्रदेश मे सरयू नदी किनारे बसी अयोध्या नगरी थी । एक तो वैसे ही नदी किनारे बसे प्रदेश मे नैसर्गिक सौन्दर्य होता है और फिर उसमे भी जन-धन से समृद्ध अयोध्या नगरी की छटा तो निराली थी । इस पवित्र नगरी को ही तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव, अजितनाथ, अभिनन्दन, अनन्तनाथ आदि जिनेश्वरो और मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जैसे महापुरुषो को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

सरयू के किनारे अयोध्या नगरी उपवन की तरह शोभित होती थी और इसके निवासी अपने सौन्दर्य एव नम्र स्वभाव से प्रफुल्लित पुष्प-से प्रतीत होते थे । उसी उपवन मे एक ऐसा भी पुष्प था जो स्वय अपने गुणो से सुगन्धित था और दूसरो को भी सुगन्धित कर रहा था । सारा ससार उस पुष्प को उत्तम मानता था और प्रशसा करता था । नाम था उसका राजा हरिश्चन्द्र । जहा राजा हरिश्चन्द्र अवध निवासियो मे प्रजा-पालन आदि कारणो से उत्कृष्ट माने जाते थे वही उनमे दया, करुणा आदि गुण भी विशेष थे ।

हरिश्चन्द्र को प्रजा प्यारी थी और प्रजा को हरिश्चन्द्र प्राणो के समान प्रिय थे । सदा एक-दूसरे के कल्याण की चिन्ता करते थे और परस्पर मे एक-दूसरे को दुखित करने का कभी विचार भी उत्पन्न नही होता था ।

कहा जाता है कि राजा हरिश्चन्द्र श्री रामचन्द्र जी से २७ पीढी पूर्व उसी कुल मे उत्पन्न हुए थे जो अपनी सत्यवादिता और कर्तव्यपालन के लिए प्रसिद्ध रहा है । यद्यपि राजा हरिश्चन्द्र उच्च कुल मे उत्पन्न हुए थे, बुद्धिमान थे और प्रजा की रक्षा मे तन-मन-धन से तत्पर रहते थे,

तो भी संसार में ऐसे मनुष्य विरले ही मिलेंगे जो युवावस्था को प्राप्त कर उन्मत्त न बन गए हों। युवावस्था के साथ-साथ यदि कहीं धन-वैभव का योग भी प्राप्त हो तो फिर कहना ही क्या ? और उसमें भी राजसत्ता का योग तो करेला और नीम पर चढ़ा जैसी बात है। इसके बारे में तो इतना कहना ही पर्याप्त है कि—

> यौवनं धन संपत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता ।
> एकैकमप्यनर्थाय किमुयत्र चतुष्टयम् ॥

यौवन धन-सम्पत्ति प्रभुता और अज्ञानता इनमें से प्रत्येक अनर्थ कारी हैं। लेकिन जहां चारों एकत्र हों वहां की तो बात ही न पूछिए।

युवावस्था में मस्त मनुष्य प्रायः काम-भोगों में विशेष रत रहता है। कर्त्तव्याकर्त्तव्य का उसे बहुत कम ध्यान रहता है। उसका ध्यान तो सदैव स्त्रियों के सौन्दर्य उनके हाव-भाव आदि पर ही रहता है और विशेष कर उसका समय इन्हीं कार्यों में व्यतीत होता है। पुरुष को ऐसी अवस्था में यदि स्त्री भी वैसी ही प्राप्त हो जाए जो युवावस्थावश काम-भोग की चेरी बन गई हो तो पुरुष के साथ वह स्वयं भी विलास के गहरे गड्ढे में जा गिरती है और अपना तथा पति का नाश कर लेती है। किन्तु कहीं सावधान और विवेकशील हुई तो पति को विलास में डूबने से बचा लेती है और आप स्वयं भी बच जाती है।

तो इस युवावस्था रूपी पिशाचिनी ने राजा हरिश्चन्द्र को भी धर दबाया था विलासप्रिय बना दिया था। परन्तु परस्त्री की ओर उनका ध्यान आकर्षित करने में वह असमर्थ रही। हाँ अपनी नवोढ़ा परम सुन्दरी रानी तारा के मोहपाश में अवश्य ही ऐसे बंध गए थे कि उन्हें बिना तारा के सारा संसार सूना-सूना दिखलाई देता था। तारा उनकी आँख का तारा बन गई थी और बिना तारा के एक घड़ी काटना भी मुश्किल समझते थे। केवल स्त्री-सुख को ही सुख मान बैठे थे। उठते-बैठते खाते-पीते उन्हें तारा-ही-तारा की धुन लगी रहती थी। राज्य में क्या होता

है, कर्मचारी प्रजा के साथ कैसा व्यवहार करते हैं और प्रजा सुखी है या दु खी आदि बातो की उन्हें कुछ भी परवाह नही रही थी ।

जब राजा स्वय प्रजा की ओर से उदासीन होकर विलास-मग्न हो जाता है तब प्रजा और देश की क्या दशा होती है, इसके इतिहास मे अनेक उदाहरण मिलते हैं। यहाँ पर भारत साम्राट् पृथ्वीराज चौहान और महाराणा उदयसिंह का नाम ले लेना ही पर्याप्त है। हरिश्चन्द्र के विलासी बन जाने और राजकाज न देखने से भी यही दशा होने लगी। प्रजा का धन शोषण करके कर्मचारीगण अपना घर भरने लगे और उसके सुख-दु ख की चिन्ता करने वाला कोई नही रहा।

महाराज हरिश्चन्द्र जैसे-जैसे विलास-मग्न होते जा रहे थे, वैसे-ही-वैसे उनकी कान्ति, सुन्दरता, वीरता, धीरता, बुद्धिबल आदि का भी नाश होता जा रहा था। किसी कवि ने कहा है—

कुरङ्ग मातङ्ग पतङ्ग भृङ्ग मीना· हताः पचभिरेव पच ।
एक प्रमादी सकथ न हन्यते य सेवते पचभिरेव पंच ।।

मृग श्रवण के विषय-सुख से, हाथी स्पर्शनेद्रिय के विषय सुख से, पतग नेत्र के विषय-सुख से, भ्रमर नाक के विषय-सुख से और मछली जीभ के विषय सुख से नाश को प्राप्त होती है तो जो मानव इन पाचो ही इन्द्रियो के विषयो का एक साथ सेवन करता है, वह बेचारा क्यो न बेमौत मरेगा ?

महाराज हरिश्चन्द्र पाचो इन्द्रियो के वश हो एक प्रकार-से अध -पतन के गहरे गड्ढे की ओर जा रहे थे। उनको कुछ भी ध्यान नहीं था कि मैं किस ओर जा रहा हू। वे तो यही सोचते थे कि ससार मे ऐसा और इससे बढकर दूसरा सुख है ही नही। वे तो पतन मे ही आनन्द समझ रहे थे।

यद्यपि राजा हरिश्चन्द्र तो विलासप्रिय बन चुके थे, लेकिन पति की अनुगामिनी होने पर भी रानी तारा चतुर और विवेकशील थी। पति की दशा को देख तथा दासियो के मुख से प्रजा के दु ख, कर्मचारियो

के अन्याय और राज-काज न देखने के कारण प्रजा द्वारा पति की निन्दा सुन रानी ने विचार किया कि जिस प्रजा के पीछे पति राजा और मैं रानी कहलाती हू जिसके धन का हम उपभोग करते है उस प्रजा के दुःख दूर कर रक्षा करना पति का और उनके साथ ही मेरा कर्त्तव्य है। लेकिन यह न कर अपने मजामौज में पड़े रहना तो हमारे लिए नरक में ले जाने की बात है। पति मेरे ही कारण महल से बाहर नही निकलते है, मेरे ही सौन्दर्य पर वे मुग्ध हो रहे है अत मुझे और मेरे रूप यौवन को धिक्कार है जो पति को इस प्रकार चक्कर में डालकर कर्त्तव्यभ्रष्ट कर रहा है तथा इस लोक में कलंकित और परलोक मे दंडनीय बना रहा है। मेरे ही कारण आज सूर्यवंश की अखंड कीर्ति मे कलंक लग रहा है। जिन पति की आकृति देखते ही बनती थी जिनका चेहरा गुलाब के फूल की तरह सदा खिला रहता था जिनका शरीर हृष्ट-पुष्ट और सुडौल था उनकी आज क्या दशा है? इस समय वे केवल शृगार से ही सुन्दर दीखते है, वास्तविक सुन्दरता तो उन्हे छोड गई है और इसका कारण मैं ही हू। मेरा क्षणिक ही पति के चन्द्र समान सुखदायक सौन्दर्य को कलंकित कर रहा है। लेकिन क्या प्रेम ऐसी निकृष्ट वस्तु है? क्या प्रेम पतन की ओर ले जाता है? क्या प्रेम सौन्दर्य का इस प्रकार घातक है? क्या प्रेमी मनुष्य कर्त्तव्य-पथ पर स्थिर नही रहता? नही-नही ऐसा नहीं है। यदि प्रेम ऐसा होता तो संसार में कोई उसका नाम ही न लेता। प्रेम! प्रेम! तो वह वस्तु है जो उन्नति की ओर अग्रसर करता है तेज ओज उत्साह और ज्ञान की वृद्धि करता है बल-वीर्य की रक्षा करता है उदारता और गम्भीरता को बढाता है एवं अपने कर्त्तव्य-पथ से कभी भी विचलित नही होने देता है।

इन्ही विचारो के बीच रानी गम्भीर चिन्ता-सागर मे निमग्न हो गई। वह सोचने लगी कि जब प्रेम बुरा नहीं है तो पति की ऐसी दशा होने का कारण क्या है? क्या स्त्री-प्रेम बुरा है? क्या स्त्रियों का प्रेम इतना निकृष्ट है? क्या स्त्रियों का जीवन इतना अधम है कि उनसे प्रेम

करने वाला मनुष्य पतित हो जाता है? क्या स्त्रियो का प्रेम पुरुष के यश रूपी चन्द्रमा के लिए राहु-सदृश है? लेकिन ऐसा होता तो ससार मे कोई स्त्री का नाम भी न लेता। स्त्रियो को सदा विष के समान त्याज्य समझा जाता। तो फिर मेरे पति के गौरव और सौन्दर्य पर कलक लगने का कारण क्या है?

विचारते-विचारते रानी को प्रतीत हुआ कि इस कलक का कारण प्रेम नही, मोह है। जिस प्रेम के लिए पति-पत्नी का सम्बन्ध स्थापित है, वह तो तेज, उत्साह आदि का नाशक नही अपितु वर्धक है। जो तेज, उत्साह आदि का नाश करे, अज्ञानता, अकर्मण्यता आदि की वृद्धि करे, जिसके होने पर मनुष्य किसी एक वस्तु-विशेष के सिवाय ससार के दूसरे सत्कार्यों से दूर हो जाए, जो मनुष्य की मनुष्यता का ही लोप कर दे, उसका नाम तो मोह है, प्रेम नही। इसलिए मुझ पर पति का प्रेम नही, वरन मोह है। लेकिन अब तक मैं इस बात को नही समझ सकी और मेरी यह भूल ही पति के यश-चन्द्र मे कलक लगाने वाली सिद्ध हुई है। अत मेरा यह कर्तव्य हो जाता है कि मैं पति के मोह को दूरकर उन्हे सन्मार्ग पर स्थिर करू और उनके, अपने एव गौरवशाली कुल के कलक को धो डालू।

पत्नी पति की सेविका की तरह शिक्षिका भी हो सकती है। अच्छे कार्यों मे पति की सहायता करना और बुरे कार्यों से बचाना पत्नी का कर्तव्य है। इसी कारण पत्नी पति की धर्मसहायक मानी गई है। कर्तव्य पर स्थिर रहना ही धर्म है और उसमे सहायता देना पत्नी का प्रथम कर्तव्य है। पति को अकर्तव्य से हटाकर कर्तव्यपथ पर स्थिर करने का दायित्व पत्नी पर है। इसी प्रकार पुरुष भी पत्नी को सुमार्ग पर लाने का जिम्मेदार है।

अपने प्रति पति के समोहन और प्रजा के सुख-दु ख आदि की ओर से बेखबर होने की बात से रानी सिहर उठी एव प्रजा की दशा जानने के लिए विकल हो गई। उन्होंने गुप्त रीति से प्रजा के सुख-दु ख

और राजा के बारे में उसकी भावना जानने के लिए दासियों को नगर में भेजा ।

नगर में चारों ओर राज्य की दुर्व्यवस्था की निन्दा हो रही थी । लोग कहते थे कि रानी के प्राप्त होने पर तो राजा को राज्य की दशा सुधारना चाहिए थी प्रजा को सुखी बनाने का प्रयत्न करना चाहिए था और राजकाज देखना चाहिए था । परन्तु इसके विपरीत रानी के मिलते ही राजा विषयलम्पट बन गया है । राज्य का कार्य तो नौकरों के भरोसे छोड़ रखा है । उसकी नजर तो केवल रानी को ही ताका करती है ।

राजा और प्रजा में पिता-पुत्र का-सा सम्बन्ध होता है । पुत्र यदि अनीति करता है या अपने कर्तव्य से पतित होता है तो पिता उसे शिक्षा द्वारा ऐसा करने से रोकता है और पिता अपने दायित्व से विमुख और अनीति में प्रवृत्त हो तो पुत्र के लिए भी पिता के ऐसे कार्यों का विरोध करने की मर्यादा है । उस समय की प्रजा अपने और राजा के कर्तव्य को जानती थी इसलिए उसे अपनी ही स्त्री के मोहजाल में फंसे राजा की कटु आलोचना करने में कुछ भी भय नहीं हुआ । लेकिन आज की प्रजा को अपने व राजा के कर्तव्य का ज्ञान न होने से वह राजा के अनेक अन्यायों का भी विरोध नहीं करती है । अन्यायी कहने का साहस भी नहीं कर सकती है ।

दासियों ने नगर में घूमकर जो कुछ देखा और सुना वह सब रानी को कह सुनाया । प्रजा की भावना और बातों को सुनकर रानी उसकी प्रशंसा करने लगी एवं पति को मार्ग में लाने के लिए अधीर हो उठी । लेकिन इसके साथ ही उन्हें एक दूसरी चिन्ता और हो गई कि पति के मोह को किस प्रकार दूर किया जाए ? अन्त में सोचते-सोचते उन्हें उपाय सूझ ही गया और वे उसे कार्य रूप में परिणत करने के लिए तत्पर हो गई ।

बड़े आदमियों को कुमार्ग से सुमार्ग पर लाना उतना ही कठिन है जितना सूखी लकडी को झुकाना और फिर उसमे भी राजाओ को सुधारना तो और भी कठिन है जो अपनी हठ के लिए प्रसिद्ध हैं। लेकिन उद्योगी मनुष्य के लिए कोई भी कार्य असभव नही है। उनका तो सिद्धात रहता है—

"शरीरं वा पातयामि, कार्यं वा साधयामि।'

या तो कार्य सिद्ध करके ही रहेगे अथवा उसी पर मर मिटेंगे।

२ रानी का निश्चय

मानवोत्तम दूसरों को सुधारने और सुमार्ग पर लाने के लिए स्वयं कष्ट सहन किया करते हैं। जितने भी महापुरुष हुए हैं, उनके जीवन चरित्रों से यह बात भली प्रकार सिद्ध है कि उन्होंने जो दुःख उठाया है, वह दूसरों को सुधारने सुमार्ग पर लाने के लिए ही उठाया है। स्वयं कष्ट सहकर, त्याग दिखाकर एवं आचरण कर जो उपदेश दिया जाता है जो आदर्श उपस्थित किया जाता है उसका प्रभाव अचूक और स्थायी होता है। लेकिन दूसरों को ही उपदेश देने में कुशल लोगों के उपदेश निरर्थक सिद्ध होते हैं तथा उनसे कोई लाभ नहीं होता है। आज के अधिकांश उपदेशक शिक्षक अधिकारी और नेता इसी दोष के कारण अपने उपदेशों द्वारा सुधार करने तथा जनता को सुमार्ग पर लाने मे असफल सिद्ध हुए हैं। बहुत-से लोग दूसरो के दुर्गुण मिटाने के लिए स्वयं भी दुर्गुणों से काम लेते हैं। लेकिन दुर्गुण से दुर्गुण मिटते नहीं हैं बरन बढ़ते हैं। आज के अधिकांश पति-पत्नी भी एक-दूसरे के दुर्गुणों को दूर करने के लिए किसी-न-किसी दुर्गुण से ही काम लेते सुने जाते हैं। लेकिन ऐसा करने पर वे असफल ही नहीं होते बल्कि दुर्गुणों की वृद्धि मे सहायक ही बनते हैं। सद्गुण ही दुर्गुणों का नाश करने में समर्थ है और सद्गुणों की सहायता से ही मनुष्य दुर्गुणों को छुड़ाने के कार्य मे सफल हो सकता है।

रानी विचार करती है कि प्राणनाथ को मोह में फंसाने उन्हें अपने कर्तव्य से पतित करने उनके शारीरिक सौन्दर्य और नैसर्गिक गुणों का नाश करने का कारण मैं ही हूं। मेरी हंसी मेरा शृंगार, मेरा रूप-रंग पति के लिए घातक हुआ है। मोह के नाश करने का उपाय

त्याग है। अत मैं त्याग को ही अपनाऊगी और विलासकारी कार्यों से विरक्त हो अपने प्राणाधार को मोह के दलदल से निकाल कर दिखला दू गी कि स्त्री-प्रेम कैसा होता है ? स्त्रिया क्या कर सकती हैं और स्त्रियो का क्या कर्तव्य है ? अपने पति को मोहावस्था से जागृत करू गी। मैं वैरागिन तो नही वनू गी परन्तु उस शृ गार को अवश्य त्याग दू गी जो मेरे पति को, मेरे ससुर के निर्मल वश को, एक राजा के कर्तव्य को और पुरुप के पुरुषार्थ को कलकित कर रहा है। पति मुझे प्राणो से भी प्रिय हैं, वे मेरे पूज्य हैं अत उनसे प्रेम नही त्यागू गी। लेकिन उनकी मोहनिद्रा को भग करने, उन पर लगे कलक को धो डालने के लिए मैं कष्ट सहकर भी पति को कर्तव्यपरायण वनाऊगी। उनकी गणना नीतिज्ञ तथा प्रजावत्सल नरेशो मे कराऊगी। साथ ही स्त्रीजाति के लिए आदर्श उपस्थित कर दू गी कि अपने आराध्य-देव पति को किस प्रकार नम्रता, त्याग और तपस्या से सन्मार्ग पर लाया जा सकता है। मैं अपने पति की हित-कामना से उनकी शिक्षिका वनू गी और ऐसी शिक्षा दू गी कि जिससे वे स्वय ही मेरी प्रशसा करें।

कहा तो आज की वे स्त्रिया जो पति को अपने मोहपाश मे आवद्ध रखने के लिए अनेक उपाय करती हैं, जादू-टोना कराकर पति को वश मे रखने की चेष्टा करती हैं और फिर उसे अपने वश मे पाकर, अपना आज्ञाकारी सेवक जानकर प्रसन्न होती हैं, अपना गौरव समझती हैं और फिर अपने दोनो जनो के सर्वनाश का कुछ भी ध्यान नही रखती हैं। लेकिन कहा वह तारा जो पति को अपने मोहपाश से छुडाने, उसे कर्तव्य-पथ पर स्थिर करने और कलक से वचाने का उपाय कर रही है। तारा के समान स्त्रियो ने ही आज भारतीय स्त्री का गौरव रखा है।

देखते-ही-देखते रानी ने उन वस्त्राभूपणो को, जिनके धारण करने पर उनकी सुन्दरता सोने मे सुगध की तरह वढ जाती थी, जो उसे विशेप प्रिय थे, जिन्हें अपने रूप-लावण्य की वृद्धि मे सहायक मानती थी, एकदम उतारकर फेंक दिया और ऐसे साधारण वस्त्राभूपण पहन

लिए जिनसे कभी प्रेम भी नहीं करती थी। उसके हंसते और प्रफुल्ल चेहरे पर गंभीरता छा गई।

ऐसी वेशभूषा और गंभीरता देख दासियां घबरा गईं और आश्चर्यचकित हो वे रानी से सविनय पूछने लगीं कि आज आप यह क्या कर रही हैं? आपके स्वभाव तथा आकृति के इस अचानक परिवर्तन का कारण क्या है? रानी से इसका कोई उत्तर न पाकर वे पुनः कहने लगीं कि आप इन्हें धारण कर लीजिए और अपनी गंभीरता का कारण बतलाइए।

लेकिन रानी के मन में तो आज दूसरी ही बात घूमड़ रही थी। आज उसने तो अपना कुछ कर्तव्य निश्चित कर लिया था। इसलिए उसने दासियों पर कृत्रिम क्रोध प्रकट करते हुए कहा कि मुझे इनकी आवश्यकता नहीं है और भविष्य के लिए भी मैं तुम्हें सचेत किए देती हूं कि मेरे पास ऐसी कोई वस्तु नहीं लाई जाए।

रानी के स्वभाव में इस प्रकार का आकस्मिक परिवर्तन देख और उत्तर सुन दासियों की घबराहट और भी बढ़ गई। वे ऐसा करने के कारण का भी अनुमान नहीं लगा सकी कि आज रानी को हो क्या गया है जो योगनियों की तरह वैराग्य क्या धारण की है और इस प्रकार गंभीर बन गई है। इसकी सूचना राजा को देने के लिए दासियां दौड़ी गईं। संवाद पाते ही राजा चिन्ता में निमग्न हो महल में आए और इस दशा को देख राजा की चिन्ता व आश्चर्य का पार न रहा। रानी की मुखमुद्रा देख राजा विचारने लगे कि आज जैसा चेहरा तो मैंने कभी नहीं देखा था। इस परिवर्तन का कारण क्या है?

ऐसे पुरुषों के बारे में कहा जाता है कि पुरुष कितना ही वीर क्यों न हो किन्तु यह कामी है तो प्रिय स्त्री को रुष्ट जानकर अवश्य ही घबरा जाता है और उसका धैर्य छूट जाता है। इसीलिए किसी कवि ने कहा है—

व्याकीर्ण केशर करालमुखा मृगेन्द्रा,
नागाश्च भूरि मदराजिविराजमानः।
मेधाविनश्च पुरुषाः समरेषु शूरा.,
स्त्री सन्निधौ परम कापुरुषा भवन्ति ।।

गर्दन पर बिखरे हुए बालो वाले करालमुखी सिंह, मदोन्मत्त हाथी और बुद्धिमान समरशूर पुरुष भी स्त्रियो के आगे परम कायर हो जाते हैं।

राजा हरिश्चन्द्र भी रानी की इस दशा को देखकर सहम उठे और कामी पुरुषो के स्वभावानुसार डरते-डरते रानी से पूछा— आज क्या हुआ है तुम्हे ?

तारा— क्या हुआ है नाथ ! आज यह प्रश्न किस बात को देखकर आप कर रहे हैं ?

हरिश्चन्द्र— जिस शरीर को तुम सदा सजाए रहती थी, जो अग-प्रत्यग आभूपणो से लदे रहते थे, वे आज शृ गार और आभूपणो से विहीन क्यो हैं ? तुम्हारा प्रफुल्लित मुख आज गभीर क्यो ? मेरे मन को आर्कपित करने वाली मधुर मुस्कान आज कहाँ छिप गई ? इस रूप को देखकर उत्सुकता हो रही है कि ऐसी निष्ठुरता क्यो धारण कर ली और ऐसी उदासीनता धारण करने का कारण क्या है ?

तारा— स्वामिन्, बस करो। झूठा प्रेम जताने के लिए ऐसी प्रशसा मत करो।

हरिश्चन्द्र— झूठा प्रेम कैसा ! क्या मेरा यह कृत्रिम प्रेम है ? क्या मैं तुमसे प्रेम नही करता हू ?

तारा— स्वामिन्, यदि आप मुझसे सच्चा प्रेम करते होते तो आज ऐसा कहने का अवसर ही क्यो आता ?

हरिश्चन्द्र— कैसे जाना तुमने कि मैं प्रेम नही करता हू। आज तुम्हे मेरे प्रति ऐसी शका होने का कारण क्या है ? तुम्हारे ऊपर तो मैंने सारा राजापाट ही न्योछावर कर दिया है। सदा तुम्हारे प्रेम का भिखारी

बना रहता हूं । तुम्हारे प्रेम के लिए संसार को भी कुछ नहीं समझता और विशेष तो क्या कहूं, यदि आराध्य देवी हो तो तुम्हीं हो । फिर यह शंका कैसी ?

तारा— स्वामी अब मैं आपके झूठे भुलावे में नहीं आ सकती । जो अब तक समझती रही वह तो मेरा केवल एक भ्रम था ।

रानी की बातें सुनकर राजा हरिश्चन्द्र विचार में पड़ गए । उत्तर देना तो दूर रहा जो कभी सम्मुख भी नहीं बोलती थी उस रानी को आज क्या हो गया है ? राजा ने दासियों से भी कारण जानना चाहा किन्तु वे क्या उत्तर देती ? राजा ने बहुत विचारा लेकिन कारण उनकी समझ में नहीं आया । अत विवश हो पुन रानी से पूछा—आज तुम्हारा मन कैसा है ?

तारा— क्या मैंने आपसे कोई दुर्वचन कहे हैं या कोई विक्षिप्तता की बात कही है जो आपने ऐसा प्रश्न किया ?

हरिश्चन्द्र— यदि तुम्हारे मन में कोई विषमता न होती तो ऐसी बातों और व्यवहार का कारण क्या है ?

तारा— मैं भ्रमवश आपके जिस बनावट को आदर और जिस व्यवहार को प्रेम समझती थी उसका असली तत्त्व तो अब मैं समझ सकी हूं । वह मेरा भ्रम था । अब मैं समझ पाई हूं कि आपकी दृष्टि में मेरा उतना भी आदर नहीं है जितना एक दासी का होता है और मेरे प्रति प्रदर्शित प्रेम असली नहीं बनावटी है ।

हरिश्चन्द्र— मुझे तो याद नहीं कि कभी मैंने तुम्हारा अनादर किया हो । तुमने किस समय परीक्षा की जब मेरा प्रेम बनावटी सिद्ध हुआ हो ? जब मेरे जीवन का आधार तुम्हारा प्रेम है तो फिर मैं बनावटी प्रेम कैसे कर सकता हूं ? क्या मैंने तुम्हें कभी अपशब्द कहे हैं ? यदि नहीं तो फिर कैसे जाना कि मैं तुम्हारा निरादर करता हूं और सच्चा प्रेम नहीं करता हूं ।

तारा— स्वामी, मेरी इच्छित वस्तु, मेरे शृंगार, मेरे आभूषण आप ही हैं तो मुझे अन्य वस्तुओ की क्या आवश्यकता है ? लेकिन यदि आपका मुझ पर सच्चा प्रेम है और मेरा सम्मान करते हैं, आपके हृदय मे मेरे लिए स्थान है तो परीक्षा के लिए आज मैं छोटी-सी प्रार्थना करती हू। यदि आप मेरा मनोरथ पूर्ण कर देंगे तो समझ जाऊगी कि यह मेरी भूल थी और उसके लिए पश्चात्ताप भी कर लूगी।

हरिश्चन्द्र— बस इतनी-सी बात। तो बताओ अपना मनोरथ। यदि मैं तुम्हारी इच्छित वस्तु लाने मे असमर्थ रहा तो अपने आपको अयोग्य समझूगा।

तारा— अच्छा हो कि प्रण करने के पहले आप एक बार पुन विचार कर लीजिएगा।

हरिश्चन्द्र— मैं सोच चुका, अच्छी तरह विचार चुका। तुम तो अपनी इच्छा शीघ्र बतलाओ।

तारा— प्रभो! अपनी प्रार्थना सुनाने से पहले मैं भी अपना प्रण सुनाए देती हू कि जब तक मेरी प्रार्थना स्वीकार न होगी, मेरी इच्छित वस्तु प्राप्त न होगी, तब तक मैं आपसे भेंट नही करूगी।

हरिश्चन्द्र— तुम्हारा प्रण मुझे स्वीकार है। अब तुम अपनी इच्छा प्रगट करने मे देर न करो।

इन बातो से राजा ने समझा कि रानी किसी वस्त्राभूषण की इच्छुक है और प्राप्त करने के लिए ही यह मान का प्रपच रचा गया है। लेकिन उन्हे यह मालूम नही था कि यह सब मुझे जाग्रत करने के लिए कर रही है।

हरिश्चन्द्र के बार बार उत्सुकता प्रगट करने पर रानी ने कहा— प्राणनाथ! मुझे एक ऐसे मृग-शिशु की आवश्यकता है जिसकी पूछ सोने की हो। मैं जब उससे रोहित का खेल कराऊगी तभी उसके लाभ भी आपको बतलाऊगी।

हरिश्चन्द्र— बस इतनी-सी बात ! यही छोटी-सी बात मेरे प्रेम की परीक्षा है । मैं ऐसे एक नहीं अनेक मृग शिशु मंगाए देता हूं ।

तारा— नहीं नाथ मैं तो दूसरे से मंगवाया हुआ मृग-शिशु नहीं लूंगी । मैं तो वही लूंगी जिसे आप स्वयं लाएं ।

हरिश्चन्द्र— अच्छी बात मैं स्वयं ही ला दूंगा ।

तारा— लेकिन स्वामी एक और बात है कि आप मेरे निवास-स्थान में उसी समय पधारें जब मेरी इच्छित वस्तु प्राप्त कर चुकें ।

राजा आवेश वश इस बात का उत्तर 'ठीक है' कहकर चल दिए । उन्हें विश्वास था कि मैं रानी की परीक्षा में असफल नहीं रह सकता और सोने की पूंछ वाला मृग-शिशु पकड़कर अवश्य ला दूंगा । लेकिन उन्होंने इस बात का तो विचार ही नहीं किया कि रानी जैसा मृग-शिशु मांग रही है, वैसा इस संसार में होता भी है या नहीं । उनके दिमाग में तो यही एक विचार घूम रहा था कि मैं शीघ्र रानी की इच्छा पूर्णकर पुनः उसका प्रेम प्राप्त करूं ।

मालती के भाग का अभिप्राय राजा को कष्ट में डालना नहीं था वरन इस बहाने महल की चहारदीवारी से बाहर निकाल कुछ सात्विक वातावरण में ले जाना था । वन की वायु, वन के दृश्य और वन भ्रमण के काम से परिचित कराना था ।

रानी का विचार था कि महल में पड़े रहने के कारण राजा की जो कांति घट गई है जो उत्साह नष्टप्राय हो गया है वह वन में कुछ समय रहने से पुनर्जीवित होगा । वनों के दुःखों को सहने से उन्हें दुःखों का अनुभव होगा और साथ ही मृग पर जो मोह है वह भी कम हो जाएगा ।

३. प्रणपूर्ति के लिए प्रयत्न

वस्तु का आदर उसकी न्यूनता मे होता है। जिन भोजन-वस्त्रादि को धनिक लोग तुच्छ समझते हैं, वे ही दीनो के लिए महान हैं और प्राप्त होने पर उनका सत्कार करते है एव अपने को धन्य मानते हैं। तात्पर्य यह कि वस्तु की न्यूनता आदर का कारण है। छाया का सुख वही जान सकता है जो ताप के दु ख का अनुभव कर चुका हो।

महाराज हरिश्चन्द्र सोने की पू छ वाले मृग को खोजने वन मे पहुचे। वहा की सघन छाया, शीतल हवा और पक्षियो के कलरव से राजा का मन बहुत ही प्रसन्न हुआ और विचारने लगे कि मैंने महलो मे रहकर जो पखे झलवाए, गीत-वाद्य सुने, वे इस प्राकृतिक पवन और पक्षियो के गान के समक्ष तुच्छ हैं।

मनुष्य के विचारो का प्रभाव उसकी आकृति पर पडे विना नही रहता। शिकारियो को देखकर चौकडी भरने वाले हरिण अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित राजा को देखते हुए भी इस प्रकार निर्भय थे मानो पाले हुए हो। राजा को देख वे ऐसे प्रसन्न हो रहे थे मानो परिचित हो और स्वागत के लिए खडे हो। अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित राजा का इन्हे किंचित् भी भय नहीं था और जैसे इन्हे भी हिंसक-अहिंसक, उपकारी-अपकारी और वधिक तथा रक्षक का ज्ञान हो या उसकी आकृति से ये समझ लेते हो।

महाराज हरिश्चन्द्र इन मृगो की तुलना रानी के नेत्रो से करते हुए विचारने लगे कि जिनकी उपमा देकर मैं रानी को मृगनयनी कहा करता हू, उन दोनो मे तो बडा अतर है। कहा तो इन बेचारे मूक पशुओ के निष्कपट नेत्र और कहा वे रानी के कपट से भरे नेत्र। कहा तो इनके

नेत्रों में भरा हुआ प्रेम का सरोवर और कहां रानी के नेत्रों की वह निष्ठुरता। कहां ये नेत्र जो मुझे देखकर अपने को सफल मान रहे हैं और कहां वे नेत्र जो अनुनय-विनय करने पर भी मेरी ओर नहीं देखते तथा कभी-कभी जिनसे क्रोध बरसता है। हाय-हाय! मैंने इन नेत्रों की उपमा रानी के नेत्रों को देकर बड़ा ही अन्याय किया है।

ऐसे ही विचारों में उलझे महाराज हरिश्चन्द्र को जब अपने कार्य का ध्यान हुआ तो वे मृगों के उस झुण्ड में सोने की पूछ वाला मृग खोजने लगे परन्तु उनमें एक भी ऐसा दिखाई न दिया जिसकी पूछ सोने की हो। राजा उसी की खोज में जैसे-जैसे आगे बढ़ते जाते वे वैसे वैसे वनश्री के प्राकृतिक सौन्दर्य को देख-देखकर प्रसन्न हो रहे थे। शीतल सुगन्ध युक्त पवन राजा में एक नवीन स्फूर्ति उत्पन्न कर रही थी और रानी के व्यवहार से उत्पन्न मानसिक खेद मिटता जा रहा था।

यद्यपि वन में राजा के हृदय को शांति प्रदान करने वाले दृश्यों की कमी नहीं थी किन्तु राजा पूर्णतया आनंदित न हो सके। रह-रहकर उन्हें रानी के व्यवहार की याद आ जाती थी और किये गए प्रण का स्मरण आते ही उसे पूर्ण करने के लिए अधीर हो उठते थे। चलते चलते वे कलकल करते हुए मन्दगति से बह रहे झरने के समीप पहुंचे। उसके तट के सघन वृक्षों पर विश्राम करने के लिए बैठे हुए पक्षियों का कलरव मानो अपने उपकारी वृक्षों और झरने की प्रशंसा कर रहा था। प्यासे पशु झरने के जल को पीकर ऐसे सन्तुष्ट हो रहे थे जैसे किसी महान दानी के दान से भिक्षुक संतुष्ट हो जाते हैं।

यद्यपि राजा महल की अपेक्षा यहां अधिक प्रसन्न दीख पड़ते थे परन्तु भूख और घूमने-फिरने के परिश्रम से हृदय कुछ खिन्न हो गया था और झरने के किनारे पहुंचकर एक वृक्ष की छाया में चट्टान पर बैठ गए एवं झरने के जल व वृक्षों के फलों से अपनी भूख-प्यास मिटाकर विचारने लगे —

झरने ! तू अपनी गति और शब्द से केवल मुझे ही नही वल्कि सारे ससार को एक शिक्षा दे रहा है। मेरे आने से पहले भी तू इसी प्रकार से वह रहा था और मेरे आने पर भी वैसे ही वह रहा है तथा जव मैं चला जाऊगा तव भी अपनी गति मे अतर नही आने देगा। इससे प्रगट है कि न तो तुझे मेरे आने से कोई हर्ष हुआ और न मेरे जाने से तुझे किसी प्रकार का विषाद ही होगा। तू सदैव अपनी गति, अपने सगीत को एक ही रूप मे रखता है। किनारे पर लगे हुए हरे-भरे वृक्षो की सम्पत्ति पर न तो तुझे अभिमान होता है और न तेरे निर्मल जल को मलिन वनाने वालो पर क्रोध ही। सिर्फ प्राकृतिक नियमो का पालन करते हुए और पहाड, पत्थरो आदि की वाधाओ से किंचित् भी भयभीत हुए विना अविराम गति से वह रहा है और सवको अपना अनुकरण करने का वोध दे रहा है।

तेरे सगीत-सा सगीत मैंने रानी का भी सुना है परन्तु जो सरसता तेरे सगीत मे है वह रानी के सगीत मे नही मिली। तू स्वाभाविक सरलता से अपना शब्द सुनाता है और रानी कृत्रिम सरलता से। तू सदा राग अलापता रहता है और रानी मेरे कहने पर अलापती है। हे जलस्रोत ! तू अपना अकृत्रिम नाद सुनाकर सवको कृत्रिम नाद से वचने का उपदेश देता है।

प्रिय मित्र ! कल तक मैं जिस नाद के सुनने मे आनद मानता था वह कृत्रिम था, इस वात को मैं आज तेरी सहायता से ही समझ सका और यह अवसर मुझे रानी की कृपा से प्राप्त हुआ है। रानी का यह कहना कि आप मेरा तिरस्कार करते हैं, ठीक ही था। वास्तव मे आज तक मैं व रानी एक दूसरे का अपमान ही करते रहे। हम दोनो ने कभी भी तेरे जल और शब्द की तरह निर्मल और अकृत्रिम वात नही कही। यह तो एक प्रकार-से अपमान ही था। सभवत तुझसे उपदेश प्राप्त करने के लिए ही रानी ने मृग-शिशु लाने के वहाने मुझे यहा भेजा हो।

यकायक राजा को ध्यान हुआ कि मैं आया तो हूं सोने की पूंछ वाले मृग की खोज में और बैठ गया यहां आकर। अत मुझे अपने प्रण को पूर्ण करने का उपाय करना चाहिए। यहां बैठने से काम नहीं चलेगा।

राजा वहां से उठे और वन की छटा मोरों की गुनगुन हिंसक पशुओं की गर्जना और पक्षियों की किल्लोल क्रीड़ा को देखते-सुनते सोने की पूंछ वाले मृग-शिशु की खोज में चल पड़े। छह दिन तक सारा वन छान मारा परन्तु उन्हें ऐसा एक भी मृग-शिशु दिखलाई न दिया जिसकी पूंछ सोने की हो।

सातवें दिन राजा को अपना प्रण पूर्ण न कर सकने का बहुत ही खेद हुआ। वे निराश होकर सोचने लगे कि मैं एक क्षत्रिय होकर भी स्त्री को दिये हुए वचन का पालन न कर सका। रानी! तेरी आकृति को देखने से तो ऐसा नहीं जान पड़ता था कि तू ऐसी अप्राप्य वस्तु के लिए मुझे कष्ट में डालेगी। यह निष्ठुरता तेरे हृदय में कहां छिपी थी जिसे मैं आज तक न समझ सका।

राजा विचार करने लगे कि रानी की ऐसी अप्राप्य वस्तु की मांग का कारण क्या है? यह तो सम्भव नहीं कि रानी अकारण ही मुझे कष्ट में डाले वन-वन भटकाए। अकस्मात विचारमग्न राजा हर्ष से उछल पड़े और कहने लगे—रानी! तेरी मांग का कारण मैं समझ गया। वास्तव में मैं तेरा अनादर ही करता था। मैं स्वयं विषय भोगों में लिप्त रहूं तुझे उसका साधन मानूं और अपने कर्तव्य को न देखूं यह कदापि तेरा आदर नहीं कहला सकता। तूने सोने की पूंछ वाला मृग-शिशु लाकर न देने तक अपने महल में न आने का प्रण कराकर मेरा उपकार ही किया है। इसमें न तो तेरा कुछ स्वार्थ है और न मुझे कष्ट में डालना ही तुझे अभीष्ट है। बस तेरा ऐसा करने का अभिप्राय यही है कि मैं इस विषय-विष से—जिसे मैं अब तक अमृत समझता था बच जाऊं। तूने तो मेरा बड़ा उपकार ही किया है। तेरी कृपा से आज मुझे अवर्णनीय आनंद प्राप्त हुआ है। रानी! तूने मुझे मेरा कर्तव्य-पथ दिखला दिया है।

इसके लिए प्रिये मैं तुझे अनेक धन्यवाद देता हू और आभार मानता हू। मैं तेरी इच्छित वस्तु प्राप्त न कर सका, इसलिए सभव है कि तू मुझसे रूठी रहे, लेकिन तेरी यह निष्ठुरता मुझे कर्तव्य-पथ पर चलने मे और सद्विवेक को जागृत करने मे सहायक सिद्ध होगी।

इन विचारो से राजा का मन प्रसन्न हो उठा और उन्होने राज-धानी की ओर अपना घोडा बढा दिया।

४ एकांकी की व्याख्या

शिक्षा देने वाले यद्यपि ऊपर से तो कठोर व्यवहार करते हैं परन्तु हृदय में सर्वथा दया कृपा और सहानुभूति के ही भाव रखते हैं। उनके हृदय में दुर्भाव नहीं रहता। इसी से वे उन शिक्षाओं को हृदयस्थ कराने के लिए हर प्रकार के उपाय काम में लेते हैं। एक कवि ने कहा है—

गुरु परजापति सारखा घड़ घड़ काढ़े खोट।
भीतर से रक्षा कर ऊपर लगावे चोट॥

गुरु और कुम्हार, दोनों एक सरीखे के होते हैं। जिस प्रकार कुम्हार घड़े की बुराई दूर करने के लिए ऊपर से तो चोट लगाता है परन्तु भीतर से हाथ द्वारा उसकी रक्षा करता रहता है उसी प्रकार गुरु ऊपर से तो कठोर रहते हैं परन्तु हृदय से शिष्य का भला ही चाहते हैं।

यहां पर गुरु का कार्य रानी कर रही थी। यद्यपि ऊपर से तो निष्ठुर थी परन्तु हृदय में राजा के प्रति अगाध प्रेम रखती थी।

यद्यपि राजा से सोने की पूंछ वाला मृग-शिशु लाए बिना महल में न आने की प्रतिज्ञा तो रानी ने करा ली परन्तु हृदय में चैन नहीं था। उसके मन में रह रहकर बस एक ही विचार आता था कि मैंने पति से अप्राप्य वस्तु तो मंगाई है लेकिन न जाने उसके लिए उन्हें कहां-कहां भटकना पड़ेगा और न जाने कैसे-कैसे कष्ट उठाने पड़ेंगे।

नित्य की तरह संध्या के समय जब राजा महल में नहीं आए तो रानी विचारने लगी कि आज नाथ क्यों नहीं आए? तो उन्हें ध्यान हुआ कि मैंने ही तो सोने की पूंछ वाला मृग-शिशु न लाने तक पति से महल में न आने का प्रण करवाया है।

फिर भी महल मे स्वामी के होने, न-होने का पता लगाने के लिए रानी ने दासी को भेजा। लौटकर उसने बतलाया कि वे महल मे नही हैं।

दासी के उत्तर को सुनते ही रानी चिन्तित हुई और मन-ही-मन कहने लगी कि मेरी ही वस्तु की खोज मे नाथ वन मे गए हैं। परन्तु मैंने तो ऐसी वस्तु मागी है जो मिल ही नही सकती। हृदयेश्वर! आज आपको न जाने कैसे-कैसे कष्टो का सामना करना पड रहा होगा! आज आपने कहा भोजन किया होगा! मुझ अभागिनी ने ही आपको इन कष्टो मे डाला है, परन्तु इसमे मेरा किंचित् भी स्वार्थ नही है। मुझे आपका, प्रजा का और मेरा कल्याण ऐसा करने मे ही दिख पडा और मैं करने के लिए विवश हुई। प्राणाधार! मेरे हृदय मे आपके प्रति वही प्रेम है, लेकिन उसी प्रेम से इस समय आपको कष्ट प्राप्त हो रहा होगा, अत मैं भी प्रण करती हू कि जब तक आपके दर्शन न कर लू, तब तक न तो अन्न-जल ग्रहण करू गी और न शैया पर ही शयन करू गी। मैं तो सुख मे रहू और आप कष्ट पाए, यह अनुचित है। मैं आपकी अर्धांगिनी हू अत आप दु ख सहे और मैं सुख मे रहू, यह बात मेरे कर्तव्य को शोभा नही देती। यदि मैंने हित को दृष्टि मे रखकर ऐसी अप्राप्य वस्तु मागी है तो मेरी तपस्या अवश्य ही आपके और मेरे कष्टो को दूर करके कल्याण-कारी होगी।

इस प्रकार चिन्ता मे विकल रानी के भी छह दिन बीत गए। सातवें दिन चिन्ताग्रस्त रानी उपवन मे आकर एक कुण्ड पर बैठ गई और कमल को सम्बोधित कर कहने लगी—कमल! इस समय तू कैसा प्रसन्न चित्त होकर अपनी छटा फैला रहा है। यदि इस समय कोई तुझे उखाड डाले तो तेरी प्रसन्नता और छटा का घात हो जाएगा। तेरे बनने मे तो समय लगा है, परन्तु नाश करने वाले को कुछ भी समय नही लगेगा। जिस प्रकार तुझे प्रकृति ने पाला-पोसा है उसी प्रकार मेरे पति-कमल के लालन-पालन मे उनके माता-पिता ने न मालूम कितने कष्ट सहे होंगे, परन्तु मुझ पापिन ने इसका विचार न करके एक क्षण मे ही उखाड

दिया है। मैं बड़ी पापिन हूं। हाय ! इन सात दिनों में न मालूम उन्होंने कैसे-कैसे कष्ट उठाए होंगे और न जाने कितने प्रकार के संकटों का सामना करना पड़ा होगा !

ऐसी-ऐसी अनेक प्रकार की कल्पनाएं करती हुई रानी गंभीर चिन्ता-सागर में निमग्न हो गई कि उन्हें अपने तन की भी सुध न रही।

उधर राजा वन से लौटकर विचारने लगे कि पहले मैं रानी को तो देखूं जिसने मुझे सात दिन तक वन-वन भटकाया और इस बात का भी पता लगाऊं कि मेरे वन जाने और कष्ट सहने का उसे दुःख है या नहीं। क्योंकि स्त्री की परीक्षा कष्ट में ही होती है। यद्यपि रानी ने सोने की पूंछ वाला मृग-शिशु लाए बिना अपने महल में आने से रोक दिया है लेकिन आज तो मैं कुछ दूसरे ही विचारों को लेकर रानी के महल में जा रहा हूं।

राजा ऐसा विचार कर रानी के महल में पहुंचे परन्तु वहां रानी न दीख पड़ी। दासियों से पूछने पर मालूम हुआ कि रानी समीप के उपवन में हैं। महाराज हरिश्चन्द्र उपवन में पहुंचे। वहां पर निस्तेज कृश-शरीर रानी को योगियों की तरह चिन्ता-मग्न देख राजा विचारने लगे कि मैंने वन में रहकर जितने कष्ट उठाए हैं उन से भी अधिक कष्टों का अनुभव रानी महल में ही रहकर कर रही है। संभवतः अभी भी रानी मेरी ही चिन्ता में डूबी हुई है। इस प्रकार का विचार करके राजा ने पुकारा— प्रिये कुशल तो हो !

राजा के शब्द सुनते ही रानी के हृदय में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई और विचारने लगी कि क्या वे आ गए ? अवश्य आ गए होंगे। अन्यथा मुझे 'प्रिये' कहकर कौन संबोधित करता ?

यद्यपि राजा को आया जान तारा के हृदय में अपार आनंद हुआ लेकिन उसे प्रगट नहीं होने दिया। सोचा कि हर्षवेग में यदि मैंने प्रगट कर दिया तो जिस अभिप्राय से इतने दिन मैंने इनको वन-वन में भट

काया है, उसमे मफलता प्राप्त नही होगी और स्वामी पर लगे जिस कलक को मिटाना चाहती हू, उसे मिटा न सकू गी ।

ऐसा सोचकर रानी ने गभीर दृष्टि से राजा की ओर देखकर पूछा— प्रभो ! आप पधार गए ?

राजा— हा प्रिये, आ तो गया हू !

रानी— हृदयवल्लभ ! और मेरी वस्तु कहा है ?

राजा— प्रिये ! तुम विचारो तो सही कि जो वस्तु तुमने मागी है, क्या उसका प्राप्त होना सभव है ? तुम राजवश की ललना हो, राजवश की कुलवधू हो और एक राजा की सहधर्मिणी हो, फिर भी इतनी अज्ञानता कि तुमने ऐसे मृग-शिशु की माग की कि जिसे प्रत्यक्ष मे देखना तो दूर, कभी स्वप्न मे भी नही देखा है, न किसी से सुना है और न पुस्तको मे भी पढा है । मैंने सात दिन तक उसे वनो मे खोजा, परन्तु मुझे तो एक भी ऐसा मृग या मृग-शिशु दिखलाई नही पडा, जिसकी पूछ मोने की हो । यदि वैसे मृग ससार मे होते तो कदाचित मैं उन्हें पकड न भी पाता लेकिन मेरी दृष्टि से छिपे नही रह सकते थे । मैं यह नही कहता कि तुमने सर्वथा अप्राप्य वस्तु मागकर मेरी इतनी कठिन परीक्षा क्यों ली है ? इमलिए अब मेरे कथन पर विश्वाम करो और निष्ठुरता को छोडकर पहले की तरह प्रेम-व्यवहार करो ।

रानी— अच्छी बात है नाथ ! मैं यह तो नही कह सकती कि आप जो कुछ भी कह रहे हैं, वह अनुचित है, परन्तु इतना अवश्य कहूगी कि आपके राज्य मे सबके लिए तो सब कुछ है, परन्तु मुझ अभागिनी के लिए आपके हृदय मे स्थान कहा है, जो मेरी मागी हुई वस्तु ला दें । मेरे लिए तो केवल तिरस्कार और कपट भरा झूठा प्रेम ही है । यदि मैंने आपसे कोई अप्राप्य वस्तु मागी थी तो उसी समय कह देते जिससे न तो मैं ही प्रतिज्ञा करती और न आपसे ही कराती । आप भी क्षत्रिय हैं और मैं भी क्षत्राणी हू और प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहना क्षत्रियो का कर्तव्य है । मैं तो पहले ही प्रार्थना कर चुकी थी कि आप मुझसे प्रेम नही करते हैं । इस

अनादर पूर्ण जीवन से तो मरना ही श्रेष्ठ है। (दासी को संबोधन करके) मल्लिके बस बस ! चलो महल में चलें और अपना शेष जीवन भगवद् भजन में ही व्यतीत कर दें।

यह कहकर मल्लिका को साथ ले रानी चल दी। राजा ठहरने के लिए कहते ही रहे परन्तु रानी न ठहरी सो न ठहरी।

रानी के इस प्रकार चले जाने का तात्पर्य राजा समझ गये और विचारने लगे कि यह सब मेरे काम के लिए ही मेरे हित के लिए ही रानी ने मुझसे अपने महल में न आने की प्रतिज्ञा कराई थी। कदाचित ऐसा समझना मेरा भ्रम भी हो। मेरी सहधर्मिणी होकर जब वह मेरी अपेक्षा नहीं रखती तो मैं भी क्यों उसकी अपेक्षा रखूं ? यदि मुझे रानी का वियोग असह्य होगा तो क्या रानी को मेरा वियोग असह्य न होगा ? और यदि उसको असह्य हो जाएगा तो मैं पुरुष होकर भी उसे सहन करने में क्यों असमर्थ रहूंगा ? यदि रानी अपनी प्रतिज्ञा में इतनी दृढ़ है तो मैं क्यों अशक्त रहूं ? यह तो मेरे पुरुषत्व को कलंकित करने वाली बात है। जब हम दोनों के हानि-लाभ सुख-दुःख आदि समान हैं तो फिर मैं ही क्यों चिन्ता करूं ?

इन विचारों ने राजा को एक प्रेरणा दी और वे अपने महल में लौट आए।

५. सुख-निद्रा का अनुभव

राजा अपने महल मे आकर सो गए आज उनका मन चिन्ताओ से मुक्त था और कुछ थकावट भीथी अत ऐसी नीद आई कि जिसका अनुभव एक विशेष समय से नही हुआ था ।

हृदय के शात और मन के स्थिर रहने पर मनुष्य को आनन्द प्राप्त होता है । इसकी प्राप्ति के लिए ही योगी एकान्तवास पसन्द करते हैं और जिससे वे सासारिक झझटो से दूर व चिन्ताओ से रहित हो जाते हैं । चिन्ताओ के कारण ही मानव मन अशात और अस्थिर रहता है । चिन्ता-ग्रस्त मनुष्य के हृदय को कभी भी और किसी काम मे शाति नहीं मिलती है । उसका मन सदैव चचल रहता है । ऐसे मनुष्य को न तो लौकिक कार्यों मे और न लोकोत्तर कार्यों मे किसी प्रकार का आनद आता है । प्रतिदिन के जीवनोपयोगी कार्य— खाना-पीना, सोना आदि चिन्ताग्रस्त मनुष्य भी करता है और चिन्ता रहित भी, लेकिन इन्ही कार्यों मे जहा चिन्ताग्रस्त मनुष्य दु ख का अनुभव करेगा वही चिन्ता रहित मनुष्य को शाति प्राप्त होगी । मन की स्थिरता के लिए चिन्ताओ का नाश होना आवश्यक है । चिन्ताओ के पूर्णतया नाश होने पर आत्मा सच्चिदानद वन जाती है ।

रानी भी अपने महल में लौट आई । राजा के दर्शन से उनकी एक चिन्ता तो मिट चुकी थी परन्तु अब एक दूसरी ही चिन्ता ने उन्हें आ घेरा कि स्वामी आज सातवें दिन तो पधारे हैं परन्तु मैं ऐसी पापिन कि उनसे कुशलता भी नही पूछ सकी, उनके कष्टो की कहानी भी नही सुनी, वल्कि उनके हृदय को विशेप दु खित कर दिया और उनके कहने पर भी न ठहर सकी । यद्यपि यह सव किया तो मैंने उनके हित के लिए ही परन्तु

ऐसा न हो कि वे मेरे अभिप्राय को गलत समझ बैठे और कहने लगें कि रानी दुष्ट हृदय वाली है कूर स्वभावी है और पतिवंचक है। प्रभो! यद्यपि आज आप अनेक कष्टों को सहकर पधारे हैं। इस समय आपकी थकावट को मिटाना और सुख पहुंचाना मेरा परम कर्तव्य था परन्तु अभी मैं सेवा में उपस्थित होती हूं तो अब तक का किया कराया और जिस अभिप्राय से मैंने स्वयं आपको परेशानी में डाला है यह सब निष्फल हो जाएगा।

रानी इसी चिन्ता को दूर करने के लिए भगवान का भजन करने बैठीं। उच्चारण तो करना चाहती थी परमात्मा का नाम परन्तु मुख से निकलता था पति— पति ही। इस अंतर के लिए रानी विचारने लगीं कि मेरे लिए परमात्मा और पति दोनों ही समान हैं। मुझे किसी विषयेच्छा से पति याद नहीं आ रहे हैं। उसे तो मैं पहले ही त्याग चुकी हूं। अत मेरे लिए परमात्मा और पति दोनों समान रूप से वंद-नीय है।

यद्यपि रानी अपने मन को अनेक प्रकार स समझाती थी परन्तु राजा की थकावट आदि का स्मरण करके रह-रहकर मन उसी ओर चला जाता था। रानी सोचती थी कि इस समय मुझे क्या करना चाहिए! यदि सेवा के लिए जाती हूं तो इस बात का भय है कि उनका मोह पुन जाग उठे और प्रतिज्ञा भंग हो जाए, और नहीं जाती हूं तो हृदय को धैर्य नहीं होता।

इसी उधेड़-बुन मे डूबी रानी ने दासी को बुलाकर कहा— मल्लिके! वन के अनेक कष्ट सहकर थके थकाए स्वामी अब घर पधारे हैं। अत तू भोजन-सामग्री और तैल लेकर उनकी सेवा कर आ। यद्यपि यह कार्य है तो मेरा परन्तु मुझ अभागिन से राजा क्यों मेरी दुखित हो गई है और संभव है कि पुन जाने से और भी दुखित हो जायं। अत इस कार्य को तू ही कर आ। जिससे पति की सेवा भी हो जाए और निर्दोष भी बने रहें।

रानी की ऐसी वात सुनकर मल्लिका चौंकी और बोली— जान पडता है स्वामिनी कि आज आपको पति-प्रेम मे किसी वात का भी ध्यान नही रहा है। यदि ऐसा नही है तो आप मुझे इस समय अकेले महाराज के समीप जाने को न कहती। रात का समय, एकान्त स्थान, मे जाऊ और वे कामवश होकर कोई अनुचित कार्य कर वैठे, तो ! जव वे आपके सहवास से दूषित हो गए हैं तो क्या मेरे जाने पर उनके और दूषित हो जाने की आशका नही है ? महाराज आपके स्वामी हैं और आप उनकी धर्मपत्नी। अत एकान्त मे उनके समीप जाने का अधिकार आपको है, मुझे नही है। हाँ यदि आप जाती हो तो आज्ञा देने पर मैं भी साथ चल मकती हू या आपकी उपस्थिति मे कार्यवश उनके समीप जा सकती हू। परन्तु रात मे अकेले उनके समीप जाने के लिए मैं क्षमा चाहती हू।

यदि देखा जाय तो स्त्री-पुरुष सवन्धी पाप का विशेष कारण एकान्त निवास है। जिसके लिए यह दृष्टान्त देना अप्रासगिक न होगा—

राजा भोज ने अपने राजपडितो से पूछा कि—

"मनो महीला विषयादितात कामस्य सत्यं जनक कवे क ।"

हे कवि ! काम के उत्पन्न करने वाले मन, स्त्री, खान-पान आदि तो हैं ही परन्तु इसका सच्चा जनक कौन है ?

इस प्रश्न का उत्तर विद्वानो से प्राप्त न होने पर राजा ने कवि कालिदास से भी पूछा कि क्या आप मेरे प्रश्न का उत्तर देंगे ? कालिदास ने कहा— मैं आपको इसका उत्तर कल दू गा।

कालिदास राज सभा से लौटकर घर आए और उत्तर खोजने के लिए ग्रथो को देखना प्रारभ किया। किन्तु किसी भी ग्रथ मे उत्तर न मिला।

कालिदास की पत्नी का देहान्त हो चुका था। उनकी प्रभावती नाम की एक कन्या थी, जो उसी नगर मे विवाही थी। प्रभावती नित्य अपने पिता के घर आती और भोजन बना-खिलाकर वापस ससुराल चली जाया करती थी। रोज की तरह आज भी उसने भोजन वनाया और कालिदास

ऐसा न हो कि वे मेरे अभिप्राय को गलत समझ बैठे और कहने लगें कि रानी दुष्ट हृदय वाली है, क्रूर स्वभावी है और पतिवंचक है। प्रभो! यद्यपि आज आप अनेक कष्टों को सहकर पधारे हैं। इस समय आपकी थकावट को मिटाना और सुख पहुंचाना मेरा परम कर्त्तव्य था परन्तु अभी मैं सेवा में उपस्थित होती हूं तो अब तक का किया कराया और जिस अभिप्राय से मैंने स्वयं आपको परेशानी में डाला है यह सब निष्फल हो जाएगा।

रानी इसी चिन्ता को दूर करने के लिए भगवान का भजन करने बैठीं। उच्चारण तो करना चाहती थी परमात्मा का नाम परन्तु बदले में निकलता था पति— पति ही। इस अन्तर के लिए रानी विचारने लगीं कि मेरे लिए परमात्मा और पति दोनों ही समान हैं। मुझे किसी विषयेच्छा से पति याद नहीं आ रहे हैं। उसे तो मैं पहले ही त्याग चुकी हूं। अतः मेरे लिए परमात्मा और पति दोनों समान रूप से वंदनीय हैं।

यद्यपि रानी अपने मन को अनेक प्रकार से समझाती थी परन्तु राजा की थकावट आदि का स्मरण करके रह-रहकर मन उसी ओर चला जाता था। रानी सोचती थी कि इस समय मुझे क्या करना चाहिए! यदि सेवा के लिए जाती हूं तो इस बात का भय है कि उनका मोह पुनः जाग उठे और प्रतिज्ञा भंग हो जाए और नहीं जाती हूं तो हृदय को धैर्य नहीं होता।

इसी उधेड़-बुन में डूबी रानी ने दासी को बुलाकर कहा— मल्लिके! मन के अनेक कष्ट सहकर थके थकाए स्वामी अब घर पधारे हैं। अतः तू भोजन-सामग्री और तैल लेकर उनकी सेवा कर आ। यद्यपि यह कार्य है तो मेरा परन्तु मुझ अभागिन से राजा रूपी मणी दूषित हो गई है और संभव है कि पुनः जाने से और भी दूषित हो जाये। अतः इस कार्य को तू ही कर आ। जिससे पति की सेवा भी हो जाए और निर्दोष भी बने रहें।

दास ने भोजन किया। पिता को भोजन कराकर प्रभावती ने अपनी ससुराल सदेश भिजवा दिया कि मैं आज यहा रहूगी।

सध्या के समय प्रभावती ने जो भोजन बनाया उसमे कामोत्तेजक पदार्थों का सम्मिश्रण कर दिया। पिताजी को भोजन करा के प्रभावती ने भी भोजन किया और दोनो अपने-अपने स्थान पर सो गये। प्रभावती ने सोने से पूर्व ऐसे स्थान को देख लिया था जिसमे चले जाने पर वह पिता के हाथ भी न आये और राजा के प्रश्न का उत्तर भी उन्हे मिल जाये।

जब कामान्ध मनुष्य की बुद्धि नष्ट हो जाती है तो उस समय उसे अपने कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान नही रहता है। चाहे जितना बुद्धिमान मनुष्य हो परन्तु कामान्ध होने पर उसे केवल स्त्री की ही धुन सवार रहती है। चाहे फिर वह बहिन, बेटी ही क्यो न हो या पशु जाति की ही क्यो न हो ?

रात के समय उन कामोत्तेजक पदार्थों ने अपना प्रभाव बतलाया। कालिदास काम-पीडा से मुक्ति पाने की अभिलाषा मे प्रभावती के निकट पहुचे और सहवास के उपाय करने लगे। प्रभावती ने कालिदास को ऐसा करते देख कहा— पिताजी सावधान रहिये। क्या आप अपनी बेटी पर ही ऐसा अत्याचार करने के लिए तत्पर हुए हैं ? परन्तु उस समय तो कालिदास पर काम का भूत सवार था अत उस समय उन्हे यह चिन्ता क्यो कर होती कि यह मेरी बेटी है ? प्रभावती की बात सुनकर बोले— बस ! चुप रह, अन्यथा तेरे जीवन की खैर नही है।

प्रभावती समझ गई कि अब ये अपने वश मे नही हैं। इस समय इनका विवेक लुप्त हो चुका है। अतएव बोली — पिताजी यदि आपकी ऐसी ही इच्छा है तो कम-से-कम दीपक तो बुझा दीजिए। क्या उसके रहते हुए आप अपनी बेटी के साथ और मैं अपने पिता के साथ भोग भोग सकूगी ?

से कहा कि पिताजी भोजन कर लीजिए। वे किन्तु उस समय कालिदास राजा के प्रश्न का उत्तर ग्रन्थों में खोज रहे थे। अत उन्होंने बात सुनी-अनसुनी कर दी। जिससे प्रभावती ने समझा कि इस समय पिताजी किसी आवश्यक कार्य में लगे हैं और सम्भव है वह कार्य कुछ देर में समाप्त हो जाए। कुछ देर ठहर कर पुन प्रभावती कालिदास के पास गई और भोजन करने के लिए कहा। परन्तु कालिदास ने उत्तर दिया कि अभी कुछ देर ठहर कर ही भोजन करूंगा।

कालिदास के उत्तर और मुखमुद्रा से प्रभावती ने समझ लिया कि इस समय पिताजी किसी चिन्ता में डूबे हुए हैं। उसने पूछा— पिताजी आप किस चिन्ता में फंसे हुए हैं? कालिदास ने झुंझलाकर उत्तर दिया कि तू जानती-समझती तो कुछ है नहीं तुझे क्या पता कि मैं इस समय कौन-सा कार्य कर रहा हूं और व्यर्थ की बातें कर मेरा समय नष्ट कर रही है।

कालिदास की झुंझलाहट को देखकर प्रभावती ने कहा कि आप विचारिए तो सही कि मुझे दोनों घरों के कार्य करने पड़ते हैं। यदि मैं यथा समय सब कार्य न करूं तो मेरा काम कैसे चलेगा? मैं कभी से भोजन बनाकर आपसे प्रार्थना कर रही हूं कि भोजन कर लीजिए, किन्तु आप न तो भोजन करते और न अपनी चिन्ता का कारण ही बतलाते हैं। कम-से-कम अपनी चिन्ता का कारण तो बतला दीजिए, जिससे मैं भी उस पर कुछ विचार कर सकूं।

कालिदास ने राजा के प्रश्न को सुनाकर कहा कि मैंने कल तक इसका उत्तर देने का राजा को वचन दिया है परन्तु इस समय तक न तो मैं उत्तर ही विचार सका और न किसी ग्रंथ में ही इसका उत्तर मिलता है।

प्रभावती ने प्रश्न को सुनकर कालिदास से कहा— बस इतनी-सी ही बात। आप चलकर भोजन कीजिए। मैं इस प्रश्न का उत्तर कल सभा के समय से पहले ही आपको दे दूंगी। कालिदास को प्रभावती की बात पर विश्वास नहीं हुआ किन्तु उसके बारबार विश्वास दिलाने पर कालि-

जिन्होंने आपको ऐसा करने के लिए विवश कर दिया। अब तो आप अच्छी तरह समझ गए होंगे कि काम का सच्चा बाप एकान्त है। यदि कभी मन खराब भी हो जाय तथा स्त्री भी पास हो परन्तु एकान्त मे न हो तो वे बुरे विचार कार्य रूप मे परिणत न हो सकेंगे। इसलिए प्रश्न का उत्तर देने के पहले ही उसका अनुभव करा दिया है।

कालिदास— यद्यपि उत्तर देने के लिए ही, तूने जान-बूझकर मुझे ऐसे उत्तेजक पदार्थ खिलाए, जिससे मैं अपने आपे मे नही रह सका, तथापि तेरे साथ अन्याय करने के विचारो के लिए तो मुझे प्रायश्चित करना ही चाहिए ?

प्रभावती— जब आप परवश थे तो उनका प्रायश्चित क्या होगा ? फिर भी आप प्रायश्चित करना ही चाहते हैं तो आपके साथ ही मैं भी प्रायश्चित करती हू कि भविष्य मे चाहे पर पुरुष पिता हो या भाई ही हो परन्तु उसके साथ एकान्त मे नही रहूगी।

दूसरे दिन राज सभा मे कालिदास ने प्रभावती द्वारा अनुभव कराए गए उत्तर को कह सुनाया, जिसे सुनकर राजा भोज बहुत प्रसन्न हुए।

सारांश यह कि काम विकार को कार्य रूप मे परिणत कराने का अवसर तभी प्राप्त होता है जब स्त्री-पुरुष एकान्त स्थान मे हों। अतएव इससे बचने के लिए ही स्त्री-पुरुष का एकान्त स्थान मे रहना त्याज्य माना गया है।

मल्लिका का उत्तर सुनकर रानी बोली कि तेरा कहना ठीक है। वास्तव मे मैंने पति प्रेम के आवेश मे कार्य के औचित्य पर ध्यान नही दिया। लेकिन अब मैं भी नही जाती हू। जो कुछ होगा वह अच्छा ही होगा।

प्रभावती की बात सुन कालिदास दीपक बुझाने गए कि इतने में ही प्रभावती पहले से सोचे हुए स्थान में जाकर छिप गई और किवाड़ बन्द कर लिए। कालिदास ने लौटकर प्रभावती को अनेक भय दिखाए, प्रलोभन दिए लेकिन उसने कहा कि आप सवेरे चाहे मुझे मार ही डालें परन्तु इस समय तो मैं किवाड़ नहीं खोलूंगी। प्रभावती को प्राप्त करने के लिए कालिदास ने अनेक उपाय किए परन्तु वे उसमें असफल ही रहे।

जब सारी रात इसी प्रकार के उपद्रव करते-करते बीत गई और सवेरा होने आया एवं उत्तेजक पदार्थों का प्रभाव कम हुआ तो कालिदास का विवेक जागा और सोचा कि मैं यह क्या कर रहा हूं? हाय हाय! अपनी बेटी से ही व्यभिचार? वह क्या समझेगी और मैं उसको किस प्रकार अपना मुंह दिखलाऊंगा! मेरा कल्याण तो अब मरने में ही है। इस प्रकार विचार कर कालिदास ने अपने प्राणत्याग का संकल्प कर लिया और फांसी लगाकर मरने के लिए तैयार हो गए।

उधर पिता के उत्पातों को शांत और उत्तेजित पदार्थों के असर का समय समाप्त जानकर प्रभावती ने विचार किया कि अब तो पिताजी की बुद्धि ठिकाने पर आ गई है अतः वह किवाड़ खोलकर बाहर आई तो देखती है कि पिताजी मरने पर आमादा है। उसने कहा— पिताजी आप यह क्या कर रहे हैं!

कालिदास— बस बेटी मुझे क्षमा कर। मैं अपने इस कुकृत्य का परलोक में तो दंड पाऊंगा ही परन्तु इस लोक में भी मुंह दिखाने योग्य नहीं रहा। अतः तू मेरे काम में बाधा न डाल। बुरे विचार लाकर मैं स्वयं भी भ्रष्ट हुआ और तुझे भी भ्रष्ट करना चाहता था। अब तो मैं इस पाप का प्रायश्चित मर कर ही करूंगा।

प्रभावती— पिताजी जरा ठहरिए और मेरी बात सुन लीजिए। आपके मन में जो विकार उत्पन्न हुए और जो कुछ उत्पातादि किए, उसमें आपका क्या दोष है? यह तो राजा के प्रश्न का उत्तर मात्र है। प्रश्न का उत्तर देने के लिए ही मैंने आपको ऐसे कामोत्तेजक पदार्थ खिलाए थे

दैनिक कार्यों से निवृत हो महाराज हरिश्चन्द्र राजसभा मे आकर सिंहासन पर आसीन हो गए। यह देखकर कुछ लोगो को तो आनद हुआ और कुछ को दु ख। दु खी तो वे हुए जो राजा की अनुपस्थिति मे प्रजा पर मनमाने अत्याचार कर अपना स्वार्थ सिद्ध कर रहे थे और निरकुश हो अनेक प्रकार के अनाचार करने मे भी नही हिचकते थे। लेकिन आनदित वे हुए जो लोग राजा के, राज्य के शुभचिन्तक व न्याय-प्रिय थे तथा राजकर्मचारियो के अत्याचारो को देख-देखकर दु खी हो रहे थे। वे तो हर्ष विभोर होकर कहने लगे कि आज सूर्यवश का सूर्य पुन उदित हुआ है।

कुछ लोगो को आश्चर्य भी हुआ कि जो राजा विशेष समय से महलो के बाहर नही निकलते थे, राजकाज की ओर दृष्टि नही डालते थे, वे अचानक ठीक समय पर राजकार्य देखने मे कैसे उद्यत हुए ? राजा के स्वभाव मे अचानक इस प्रकार के परिवर्तन होने के कारण का लोगो ने पता लगाया तो मालूम हुआ कि यह सब रानी की कृपा का फल है, जिससे राजा पुन राजकाज देखने मे प्रवृत हुए हैं। इस कृपा के लिए सभी रानी की प्रशसा करने लगे और आभार मानते हुए अनेकानेक धन्य-वाद दिए।

रानी के महल मे न जाने के लिए वचन-बद्ध राजा एकाग्रचित होकर राजकाज देखने मे लगे रहते थे। अब उनका सपूर्ण समय राज्य प्रवध देखने, न्याय करने, प्रजा के दु खो और अभावो को दूर करने, उसे सुख पहुचाने आदि कार्यों में ही व्यतीत होता था। प्रजा के लिए सदाचार आदि नीति सबधी और कला-कौशल आदि व्यवसाय सबधी शिक्षा का उन्होंने ऐसा प्रवन्ध किया कि जिससे राज्य मे अपराधो का नाम ही नही रहा था। वे अपराधो का पता लगाकर अपराधियो को शिक्षा देते थे और अपराध के उन कारणो का उन्मूलन ही कर देते जिससे पुन अप-राध न हो सकें। न्याय भी इतनी उत्तमता से करते थे कि किसी भी पक्ष को दु ख नही होता था। यही बात मुकदमों आदि की भी थी कि

६ कर्तव्योन्मुख राजा का राज्य-शासन

महाराज हरिश्चन्द्र आज सूर्योदय से पहले ही जाग गये।

धर्मात्मा मनुष्य सूर्योदय से पहले ही उठकर परमात्मा के ध्यान में लग जाते हैं। वे आलसियों की तरह सूर्योदय होने के बाद तक बिछौनों में नहीं पड़े रहते हैं। सूर्योदय होने के पश्चात् उठने से आयुर्वेद ग्रंथों में भी कई हानियाँ बतलाई हैं। रात में देर तक जागना और फिर सूर्योदय के पश्चात् तक सोते रहना प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध है। प्राकृतिक नियमों की अवहेलना करने वाला मनुष्य अपने जीवन स्वास्थ्य, उत्साह और काम की भी अवहेलना करता है और प्राकृतिक नियमानुसार दंडित होता है।

महाराज हरिश्चन्द्र को सूर्योदय देखने का यह अवसर आज बहुत दिनों के पश्चात् प्राप्त हुआ था। उनके हृदय में आज आनंद था उत्साह था शरीर में स्फूर्ति थी मन प्रसन्न था कि जिसका अनुभव वे बहुत समय से नहीं कर सके थे। रानी को धन्यवाद देते हुए कहने लगे—मुझे वन के प्राकृतिक दृश्य देखने सुख मिला लेने और प्रातःकाल उठने से जो आनंद प्राप्त हुआ है वह सब तेरी कृपा का फल है। तेरी माँग का अभिप्राय मुझे इन सब आनंदों से भेंट कराना था। वास्तव में मैं अपने जीवन को विषयवासना में व्यतीत करके विषपान ही कर रहा था। लेकिन तूने मेरी यह भूल दर्शाई। मैं तेरा उपकार मानता हूँ और इसे अपने ऊपर बहुत बड़ा ऋण समझता हूँ। देवयोग से होने को पुत्र वाला सुख सिद्ध प्राप्त भी हो जाता तब भी विषयवासना में मुझे वह आनंद न आता जो अब प्राप्त हो रहा है।

प्रकार के माने जाते हैं। एक दुर्जन
कर तथा दूसरे को सुखी
हैं। वे दुःखी के दुःख
देने का विचार ही
उसके दुर्गुणों को
दुर्गुणों को
स्व-

आज स्व
और पारिजात
सुशोभित सिहास
देविया यथास्था
सभा के मध्य ए
नर्तक-नर्तकिया

गायक-

आज किस विषय ...

अन्य विषयो के गीत आदि तो नित्य ही होते हैं लेकिन आज सत्य के गीत गाओ और उसी के अनुसार नृत्य हो। सत्य के प्रताप से ही हम लोग यह आनद भोग रहे हैं। इसलिए आज उसी के गुणगान करके यहा उपस्थित देव-देवियो को सत्य का महत्त्व सुनाओ।

त्रैलोक्य मे सत्य के बराबर अन्य कोई वस्तु नही है। सत्य से ही ससार की स्थिति है। यदि सत्य एक क्षण के लिए भी साथ छोड दे तो ससार के कार्य चलना कठिन ही नही, किन्तु असभव हो जायें। कीर्ति प्राप्त करने के लिए सत्य एक अद्वितीय साधन है। सत्य का पालन किसी के द्वारा भी हो लेकिन उसकी ख्याति पवन की तरह सर्वत्र फैल जाती है। सत्य पालन मे किसी प्रकार की आकाक्षा नही होनी चाहिए। यदि उसके पालन मे किसी प्रकार की आकाक्षा रखी जाएगी तो वह एक प्रकार का व्यापार हो जायगा।

सत्य का गान करने के लिए आज्ञा पाकर गायकगण आदि बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होंने गान और नृत्य द्वारा सत्य का जो सजीव दृश्य

राजा दूध-का-दूध और पानी-का-पानी अलग-अलग कर देते थे। कर्मचारियों द्वारा किसी पर अत्याचार न होने के बारे में बहुत ही सावधानी रखते थे और चोर डाकू आदि उपद्रवियों से प्रजा की रक्षा करना अपना परम कर्तव्य समझते थे।

महाराज हरिश्चन्द्र के इस प्रकार से राजकाज देखने और न्याय करने से थोड़े ही दिनों में राज्य व्यवस्था पुनः सुधर गई। प्रजा सुख-समृद्धि-संपन्न हो गई और कोई दुःखी न रहा। हरिश्चन्द्र का यह नीति धर्ममय राज्य सत्य का राज्य कहलाने लगा और उनकी कीर्ति दिग्दिगन्त में व्याप्त हो गई। इस प्रकार रानी ने अपने त्याग उद्योग से अपनी मनोकामना भी पूर्ण कर ली और राजा को अपने कर्तव्य पर भी आरूढ़ कर दिया एवं साथ ही अपना और अपने पति का कलंक भी धो डाला।

नही है।

ममार मे मनुष्य विशेषत दो प्रकार के माने जाते हैं। एक दुर्जन दूसरे मज्जन। सज्जन तो दूसरे की प्रशसा सुनकर तथा दूसरे को सुखी देखकर सुखी होते है और दु खी देखकर दु खी होते हैं। वे दु खी के दु ख दूर करने का उपाय करते हैं एव कभी किसी को दु ख देने का विचार ही नही करते हैं। दूमरो के दुर्गुणो का ढिढोरा न पीटकर उसके दुर्गुणो को दूर करने का प्रयत्न करते है और ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध आदि दुर्गुणो को पास भी नही फटकने देते हैं। लेकिन दुर्जनो का स्वभाव मज्जनो के स्वभाव मे मर्वथा विपरीत होता है।

विद्वानो ने दुर्जनो की तुलना इन्द्र मे करते हुए उन्हे इन्द्र से भी बडा वतलाया है। वे कहते हैं कि इन्द्र का शस्त्र वज्र उसके हाथ मे रहता है और वह शरीर पर ही आघात पहुचा मकता है, लेकिन दुर्जनो का शस्त्र दुर्वचन उनके मुख मे रहता है और वह मनुष्य के हृदय पर आघात करता है। वज्र का घाव और पीडा मिट सकती है परन्तु दुर्वचन की पीडा मिटना कठिन है। इन्द्र की आखो मे जितना तेज है, उतना ही क्रोध दुर्जनो की आखो मे है। इन्द्र दूसरे के सद्गुण देखता है तो दुर्जन दुर्गुण देखता है। माराश यह कि दुर्जन एक प्रकार से इन्द्र ही है। लेकिन अतर केवल इतना ही है कि इन्द्र सद्गुणो मे बडे हैं और दुर्जन दुर्गुणो से।

एक ही वस्तु प्रकृति की भिन्नता से भिन्न-भिन्न गुण देती है। जो जल सीप मे पडकर मोती बन जाता है, वही यदि मर्प के मुख मे गिरे तो विष बन जाएगा। जो बात सज्जनो को सुख देने वाली होती है, वही दुर्जनो को दु ख देने वाली हो जाती है। जो वर्षा वृक्षो को हरा-भरा कर देती है, उसी वर्षा से जवास सूख जाता है। साराश यह कि अच्छी वस्तु भी विपरीत प्रकृति वाले के लिए बुरी हो जाती है।

इन्द्र द्वारा हरिश्चन्द्र की प्रशसा मुनकर मारी सभा प्रसन्न हुई और हरिश्चन्द्र के सत्य और उसके साथ-माथ मृत्युलोक और मनुष्य जन्म की सराहना करते हुए सत्य-रहित देवजन्म को धिक्कारने लगी।

राजा दूध-का-दूध और पानी-का ... हो उठी और नायकों व पुरस्कार
धारियों द्वारा किसी पर अस्त्र ...न समाप्त होने पर इन्द्र ने कहा कि—
रखते थे और घोर डाकू ... मैं निवासियों ! अभी आप लोगों ने जिन
परम कर्तव्य समझते ...था सुना और प्रसन्न हुए हैं वह सत्य जिनके पास
आनंदित रहता है । सत्य सूक्ष्म है अतः उसका बिना
महाराज
करने से पोषे ...प्रयोग नहीं हो सकता और जब तक किसी को प्रयोग में लाने
समृद्धि- ... तक सत्य को समझने के लिए आदर्श नहीं मिलता । आप
वर्षा ...ग में हैं तब भी सत्य की उस मूर्ति के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त नहीं
...र सके जिसके दर्शन का सौभाग्य मृत्युलोकवासियों को प्राप्त है ।

मृत्युलोक में अयोध्या के राजा हरिश्चन्द्र ऐसे सत्यवादी हैं कि मानों साक्षात् सत्य ही हरिश्चन्द्र के रूप में हो । हरिश्चन्द्र में सत्य पुष्प में सुगन्ध तिल में तैल या दूध में घृत की तरह व्याप्त है । हरिश्चन्द्र का सत्य मेरुपर्वत की तरह अचल है । जिस प्रकार कोई सूर्य को चन्द्र चन्द्र को सूर्य लोक को अलोक अलोक को लोक और चैतन्य को जड़ तथा जड़ को चैतन्य बनाने में समर्थ नहीं है उसी प्रकार हरिश्चन्द्र को सत्य से विचलित करने में भी कोई समर्थ नहीं है । हरिश्चन्द्र का कोई भी कार्य सत्य से खाली नहीं है । सत्य पर प्राण के सहस्र संकट हैं तथा कोई भी उनको सत्य से विमुख करने में समर्थ नहीं हो सकता है ।

हरिश्चन्द्र के मृत्युलोक में होने से और हम देवलोक में हैं, इस विचार से आप उन्हें तुच्छ न समझें । धर्म-पुण्योपार्जन के लिए मृत्युलोक ही उपयुक्त है । वहां उपार्जित धर्म-पुण्य के प्रताप के कारण ही हम आप इस लोक में आनंद भोग कर रहे हैं । जो धर्म-पुण्य मनुष्य शरीर में हो सकते हैं वह इस देव-शरीर में नहीं । जन्म-मरण रहित होने के लिए मनुष्य जन्म ही धारण करना पड़ता है । मनुष्य शरीरधारी जीव बिना देवयोनि प्राप्त किए मोक्ष पा सकता है परन्तु देव शरीरधारी जीव मनुष्य जन्म धारण किए बिना मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते हैं । सत्य पालन में हरिश्चन्द्र अद्वितीय हैं । उनकी बराबरी करनेवाला संसार में दूसरा कोई

हैं। क्या सभा मे इन्द्र ने कोई अपमान किया है। किसी-ने कुछ ऐसी बात कह दी है जिससे आपको रोष आ गया है या अन्य कोई कारण है ?

देव— क्या तुम सभा मे नही थी ?

देविया— वही थे और अभी वही से चली आ रही हैं।

देव— फिर भी तुम्हे मालूम नही कि वहा क्या हुआ ?

देविया— मालूम क्यो नही। वहा सत्य के विषय मे नृत्य-गान हुआ था और उसके पश्चात इन्द्र ने राजा हरिश्चन्द्र के सत्य की महिमा बतलाई थी।

देव—क्या यह अपमान कम है। हम देव शरीरधारियो के सन्मुख ही हमारी सभा मे, हमारा ही राजा मृत्युलोक के मनुष्य की प्रशसा करे और हम सुनते रहें। इससे ज्यादा अपमान और क्या होगा ? क्या सत्य सिर्फ मृत्युलोक मे है और वह भी वहा के मनुष्यो मे ही हैं ? यह कितनी अनुचित बात है कि मृत्युलोक के मनुष्यो के सत्य की प्रशसा करके और हरिश्चन्द्र को ससार मे सबसे बडा सत्यधारी बतलाया जाए तथा देवलोक तथा देवताओ के गौरव-सम्मान की अवहेलना की जाय ? यद्यपि वहा बैठे सब देव-देविया इन्द्र द्वारा की गई प्रशसा सुनते रहे और प्रसन्न होते रहे लेकिन उनकी समझ मे यह बात नही आई कि इस प्रकार हम देवों का और देवलोक का कितना अपमान हो रहा है। यह तो योगा-योग की बात थी जो मैं वही उपस्थित था और जिसे इस अपमान का ध्यान हुआ। इन्द्र ने आज देवताओ का घोर अपमान किया है। लेकिन मैंने यह विचार कर लिया है कि हरिश्चन्द्र को सत्य से पतित करके इन्द्र द्वारा की गई प्रशसा का प्रतिवाद करु और देवो पर लगे हुए कलक को मिटाकर इन्द्र को उनकी अपनी भूल दर्शादू।

क्रोधावेश मे अच्छे-बुरे का ध्यान नही रहता है। क्रोधी की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। इसीसे वह न कहने योग्य बात कह डालता है और न करने योग्य कार्य कर डालता है। इन्ही कारणो से ज्ञानी पुरुष क्रोध के त्याग का उपदेश देकर कहते हैं कि क्रोध से सदा बचो।

लेकिन एक देव को हरिश्चन्द्र की यह प्रशंसा अच्छी नहीं लगी। यद्यपि इन्द्र के भय से प्रगट में तो वह कुछ न बोल सका परन्तु मन-ही-मन जल उठा कि— ये इन्द्र हैं तो क्या हुआ लेकिन इनको अपनी प्रतिष्ठा का ध्यान नहीं है। देवताओं के सम्मुख हाड़ चाम से बने रोगादि व्याधियों से युक्त मनुष्य की प्रशंसा करना इनकी कितनी हीनता प्रगट करता है। मैं डरता हूं अन्यथा इसी समय खड़ा होकर कहता कि क्या हरिश्चन्द्र इन देवताओं से भी बड़ा है जो यहां प्रशंसा की जा रही है। लेकिन अब मैं इन्द्र के कथन का प्रतिवाद मुख से न करके कार्य से करूंगा और फिर हरिश्चन्द्र की प्रशंसा की गई है उसको सत्य से पतित करके दिखला दूंगा कि देखो आपने उस हरिश्चन्द्र की सत्यप्रशंसा जिसकी प्रशंसा करते हुए आपने देवताओं को भी उससे तुच्छ होने के भाव बताये थे।

दुर्जनों को विशेषतः सद्गुणों से द्वेष होता ही है। इसी से वे दूसरे की कीर्ति सुनकर या सुखी देखकर ईर्ष्याग्नि से जलने लगते हैं। चन्द्रमा को ग्रसने की चिन्ता में डूबे हुए राहु की तरह दुर्जन दूसरे की कीर्ति सुख और गुण ग्रसने की चिन्ता में रहते हैं तथा अवसर की प्रतीक्षा करते रहते हैं। यदि इन्द्र ने हरिश्चन्द्र की प्रशंसा की तो इससे उस देव की कोई हानि न थी परन्तु दुर्जन के स्वभावानुसार वह अकारण ही हरिश्चन्द्र के साथ-साथ सत्य और इन्द्र से भी द्वेष करने लगा।

संसार में ईर्ष्या से बढ़कर दूसरा दुर्गुण नहीं है। यद्यपि ईर्ष्या अग्नि नहीं है, फिर भी जिसमें होती है, उसको निरंतर जलाती रहती है। ईर्ष्या करने वाले का मन किसी भी अवस्था में प्रसन्न नहीं रहता है। वह इस विचार से मन-ही-मन जला करता है कि यह गुण यह सुख या यह धन वैभवादि दूसरे को क्यों प्राप्त है?

क्रोध और ईर्ष्या से भरा हुआ देव घर आया। उसकी आकृति देखकर उसकी देवियां डर गईं। उन्होंने डरते-डरते उससे पूछा कि आज आपका मन क्यों मलिन है? आंखें क्यों लाल हैं और शरीर क्यों कांप रहा है? जान पड़ता है कि इस समय आप किसी पर कोपित हो रहे

तीसरी— लेकिन पति ने कही हम लोगो को छल द्वारा हरिश्चन्द्र का सत्य भग करने की आज्ञा दी तो ?

चौथी— हम लोगो को इससे क्या मतलब ? हम तो पति की आज्ञा का पालन करेंगी । इन्द्र के कथन पर विश्वास रखो और सभव है कि पति के इस उपाय से हरिश्चन्द्र का सत्य और अधिक ख्याति प्राप्त करे । हमारी तो स्वय यह इच्छा ही नही है कि हरिश्चन्द्र को सत्य से विचलित करने मे पति को सहयोग दें, लेकिन जब ऐसा करने के लिए विवश की जाती हैं तो चारा ही क्या है ? शास्त्रकारो ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि यदि विवश होकर किसी अनुचित कार्य मे प्रवृत्त होना पड़े तो अपना हृदय निर्मल रखो और उस दशा मे अपराध से बहुत कुछ बच जाते हैं । अत अपना कोई अपराध न होगा, बल्कि हम तो पति-आज्ञा पालन का भी लाभ प्राप्त करेंगी और उसके साथ-साथ ही हरि-श्चन्द्र के दर्शनो का भी लाभ प्राप्त करेंगी ।

इस प्रकार परस्पर मे विचार करके उन देवियो ने उत्तर दिया कि हम तो आपकी आज्ञाकारिणी ही हैं, आपकी आज्ञा का पालन करना हमारा कर्तव्य है । अत आप हमे जो भी आज्ञा देंगे, उसका पालन करेंगे ।

देवियो से इस प्रकार का उत्तर सुनकर देव बहुत ही प्रसन्न हुआ कि कार्य के विचार मे ही यह शुभ लक्षण दीख पड़े । तो निश्चय ही मैं हरिश्चन्द्र को सत्य से विचलित कर दू गा । जब तक मैं हरिश्चन्द्र को सत्य से विचलित न कर दू तब तक मेरे देवजन्म को, मेरे देवलोक मे रहने को और मेरे साहस-उद्योग को धिक्कार है ।

यद्यपि इन्द्र इस देव के स्वामी हैं, इसलिए वे उसके पूज्य हैं परन्तु क्रोधवश होकर उसने इन्द्र के लिए भी असभ्य शब्दों का प्रयोग कर डाला। क्रोधवश इस समय उसको अपने बोलने के औचित्यानौचित्य का भी ध्यान नहीं रहा।

देवियां उस देव के स्वभाव से परिचित थीं। वे विचारने लगीं कि स्वामी को दूसरे के गुण और प्रशंसा से द्वेष है। इनका यह रोग असाध्य है। इसलिए इसके बारे में इनकी इच्छा के विरुद्ध कुछ भी कहना क्रोधाग्नि में आहुति डालना है। अतः उन्होंने देव से फिर पूछा कि आप हरिश्चन्द्र को सत्य भ्रष्ट किस प्रकार करेंगे?

इसका भी मैं कुछ-न-कुछ उपाय विचार ही लूंगा लेकिन पहले यह जान लेना चाहता हूं कि तुम लोगों को मैं जो आज्ञा दूंगा उसका पालन करोगी या नहीं? देव ने उन देवियों से पूछा। मैं तुम्हारी भी कसौटी करूंगा कि तुम कहां तक पति-आज्ञा का पालन करती हो। म तो मुझे तभी समग्र शांति मिलेगी जब मैं हरिश्चन्द्र को सत्य से विचलित करके इन्द्र से कह सकूं कि तुमने हमारे सामने जिस मनुष्य की प्रशंसा की थी उसकी सत्यभ्रष्टता देख लो और प्रशंसा करने का पश्चात्ताप करो।

देव की इस बात को सुनकर देवियां आपस में मंत्रणा करने लगीं कि पति के प्रश्न का क्या उत्तर दिया जाय। उनमें से पहली बोली—यद्यपि जिस कार्य के लिए पति आज्ञा देना चाहते हैं वह है तो अनुचित तथापि पति की आज्ञा मानना हमारा कर्तव्य है।

दूसरी— हम यह ही जानते हैं कि हरिश्चन्द्र को सत्य से विचलित करने में कोई समर्थ नहीं है। इस पर भी यदि हरिश्चन्द्र को सत्य से विचलित करने का विचार कर रहे हैं जो उचित तो नहीं है लेकिन यह बात कहकर कौन उनका कोपभाजन बने। इसलिए हमें तो अपने कर्तव्य-पति आज्ञा पालन-पर दृढ़ रहना ही उचित है। अधिक-से-अधिक वे हरिश्चन्द्र का सत्य डिगाने में हमारी सहायता ही तो लेंगे।

जाय। इससे वे अवश्य ही उन पर क्रुद्ध होंगे और क्रुद्ध होकर वे उन्हें जला तो सकेंगे नही, केवल शारीरिक दड देंगे। उस शारीरिक दण्ड को भोगते समय देविया हरिश्चन्द्र की शरण मे जाएगी ही और वह अवश्य ही इन देवियो को कष्ट-मुक्त करेगा। ऐसा करने से निश्चय ही विश्वामित्र की क्रोधाग्नि भडक उठेगी और इस प्रकार मेरा यह षडयन्त्र सफल हो जाएगा।

इस प्रकार अपनी योजना के बारे मे विचार कर देव ने उन देवियो को आज्ञा दी कि तुम विश्वामित्र के आश्रम मे जाकर वहा उपवन को नष्ट-भ्रष्ट कर डालो। विश्वामित्र के क्रोध से तुम किंचित् भी भयभीत न होना और वे जो कुछ भी दड दें उसको सहन करती हुई हरिश्चन्द्र की शरण लेना। ऐसा करने पर वह तुम्हें उस कष्ट से मुक्त कर देगा और फिर तुम चली आना। बस तुम्हारी इतनी-सी सहायता से मैं अपने कार्य मे सफलता प्राप्त कर लूगा।

देव की आज्ञा पाकर देवागनाए विश्वामित्र के आश्रम मे आई और क्रीडा करती हुई उपवन को नष्ट-भ्रष्ट करने लगीं। विश्वामित्र के शिष्यो ने उन्हें रोका, समझाया और विश्वामित्र का भय भी दिखलाया, परन्तु वे न मानी, बल्कि उन शिष्यों की हसी उडाने लगी। कोई उन्हे डाटने लगी कि हमे प्रत्येक स्थान पर क्रीडा करने का अधिकार है, तुम रोकने वाले कौन होते हो ? शिष्यो का जब उन देवागनाओ पर कोई वश नही चला तो वे चिल्लाते हुए समाधिस्थ विश्वामित्र के समीप पहुचे। शिष्यो का कोलाहल सुनकर विश्वामित्र की आख खुली और हल्ला मचाने का कारण पूछा। शिष्यो ने बतलाया कि कुछ देवागनाए उपवन को नष्ट कर रही हैं और रोकने पर भी नही मानती हैं, बल्कि हसी उडाते हुए अपने आपको वैसा करने की अधिकारिणी बतलाती हैं। उन्हें आपका किंचित् भी भय नहीं है।

शिष्यो की बात सुनते ही विश्वामित्र क्रोध से लाल हो गए। वे उपवन मे आकर देखते हैं कि देवागनाए निर्भीकतापूर्वक किसी के पत्ते तोड रही हैं तो किसी के फल, फूल, डाली आदि। यह

८ षड्यंत्र का बीजारोपण

देवियों की बात सुनकर देव प्रसन्न तो हुआ लेकिन उसके सा[थ] ही वह दूसरी चिन्ता में पड़ गया कि हरिश्चन्द्र का सत्य भंग करने [के] लिए किस उपाय को काम में लिया जाय।

विचारवान मनुष्य को अपनी-अपनी वृत्तियों के अनुसार कोई-न-कोई उपाय सूझ ही जाता है। दुर्जन मनुष्य जब किसी का बुरा करना चाहते हैं, तब किसी-न-किसी षड्यंत्र का सहारा लेते हैं। वे उपाय उचित हैं या अनुचित प्रशंसनीय हैं या निंदनीय इस बात पर विचार नहीं करते। उन्हें तो केवल दूसरे की हानि करना अभीष्ट होता है। ऐसे मनुष्यों के बारे में एक कवि ने कहा है—

> पातयितुमेव नीचः परकार्यं वेत्ति न प्रसादयितुम् ।
> पातयितुमस्ति शक्तिर्वायोर्वृक्षं न चोन्नमितुम् ॥

नीच मनुष्य पराये काम को बिगाड़ना जानता है, परन्तु बनाना नहीं जानता है। वायु वृक्ष को उखाड़ सकती है, परन्तु जमा नहीं सकती है।

देव ने इस कार्य के लिए विश्वामित्र को अपना अस्त्र बनाना उपयुक्त समझा। उसने विचार किया कि यदि मैं प्रत्यक्ष में हरिश्चन्द्र से कोई छल करूँगा तो संभव है कि वह सावधान हो जाए। इसलिए मैं तो अप्रकट रहूँगा और विश्वामित्र को हरिश्चन्द्र से भिड़ा दूँगा। विश्वामित्र स्वभावतः क्रोधी हैं और हरिश्चन्द्र के प्रति सिर्फ एकबार उनके क्रोध को भड़काने की देर है कि वे फिर किसी के वश के नहीं हैं। हरिश्चन्द्र की ख्याति तो सत्य के कारण ही है अतः बिना उसका भंग किए अपमान नहीं हो सकेगा। परन्तु विश्वामित्र को कुपित कैसे किया जाय? इसके लिए देव ने विचारा कि देवियों द्वारा विश्वामित्र के आश्रम का उपवन नष्ट कराया

अब समझ लिया कि मैं कौन हू, मुझ मे क्या शक्ति है और मैं क्या कर सकता हू ? जब मैंने समझाया था तब तो मेरी एक न मानी, अब भुगतो अपने किये का फल और युग-युग तक बंधी रहो। मैं तुमको और भी कठिन दन्ड दे सकता था, यहाँ तक कि तुम्हें भस्म कर सकता था परन्तु मैंने तुम पर स्त्री होने के कारण दया की है और इतना ही दंड दिया है।

इस प्रकार आत्म-प्रशसा करके विश्वामित्र अपने समाधिस्थल की ओर चले गए।

देव ने जब यह देखा कि विश्वामित्र ने देवियो को बाध दिया है, तब वह एक अनुपस्थित सेवक का रूप बनाकर हरिश्चन्द्र के भृत्यो मे सम्मिलित हो गया। उसका ऐसा करने का अभिप्राय यह था कि किसी भी प्रकार से हरिश्चन्द्र को इस ओर लाकर इन देवियो को छुड़वाऊ और जिससे विश्वामित्र का सब क्रोध हरिश्चन्द्र पर पलट जाय।

नीतिज्ञ राजा लोग अपने नित्य के राजकार्य से निवृत्त हो कर इस अभिप्राय से बाहर घूमने निकला करते थे कि दु खी मनुष्य अपना दु ख राजा को सुना सकें। प्रजा जो राजा को पितृवत समझती है, राजा के दर्शन कर प्रसन्न हो जाए और राजा भी प्रजा को पुत्र की तरह देख ले, साथ ही नगर, देश, फसल, स्वच्छता आदि का भी निरीक्षण हो जाए और स्वय का स्वास्थ्य भी अच्छा रहे।

वे राजा किसी धीमी सवारी या पैदल इस प्रकार आवाज दिलवाते हुए चलते थे कि राजा के आने की सबको खबर हो जाए और जिसे जो प्रार्थना करनी हो वह कर सके तथा राजा ध्यान पूर्वक प्रार्थना को सुनकर उसका दु ख मिटाने का उपाय कर सके। लेकिन आज के युग मे यह सब बातें तो सपने जैसी हो गई हैं।

नित्य की तरह राजा हरिश्चन्द्र राजकार्य से निवृत्त होकर घूमने निकले। नगर मे होते हुए वे वन मे आ पहुचे। वन मे उस छद्मवेशी सेवक के कहने से वे विश्वामित्र के आश्रम की ओर भी चले गए। जब

सब हाल देख उन्होंने क्रोधित होकर देवांगनाओं से पूछा कि तुम मेरे उपवन को क्यों उजाड़ रही हो। जानती नहीं कि यह आश्रम विश्वामित्र का है, जिसके क्रोध से आज सारा संसार भयभीत हो रहा है। अब या तो तुम अपने इस कृत्य के लिए मुझसे क्षमा मांगों या फिर यहाँ से भाग जाओ अन्यथा मैं तुम्हें दंड दूंगा।

विश्वामित्र की लाल-लाल आंखें देखकर और बातें सुनकर देवांगनाएं किंचित् मात्र भी भयभीत नहीं हुईं और उनकी मजाक उड़ाने लगीं। उनमें से एक बोली कि देखो ये साधु बने हुए हैं जो स्त्रियों के क्रीड़ा करते हुए रोकते हैं। दूसरी बोली— तुम तो साधु हो जाओ अपना काम करो। हमारी जो इच्छा होगी करेंगे देखें तुम हमें कैसे रोक सकते हो?

उनका यह व्यवहार तत्काल विश्वामित्र की क्रोधाग्नि में आहुति का काम कर गया। विश्वामित्र का क्रोध अब चरम सीमा पर पहुंच गया था किन्तु वे स्त्रियां थीं और देवांगनाएं थीं अतः विश्वामित्र इन्हें दण्ड देने में असमर्थ थे। विवश हो विश्वामित्र ने केवल यह श्राप देकर संतोष किया कि हे दुष्टाओं! तुमने जिन हाथों से मेरे उपवन को नष्ट किया है, इत्यादि को मरोड़ा है वे तुम्हारे हाथ मेरे तप के प्रभाव से यहीं लताओं से बंध जाएं।

तप की शक्ति महान होती है। इसको न मानने की किसी में भी शक्ति नहीं है। किन्तु जहाँ विवेकी मनुष्य का तप संसार घटाने में सहायक होता है, वहाँ अविवेकी कि तपस्या संसार बढ़ाने का ही हेतु हो जाती है। तप की शक्ति के आधीन देवता भी हैं। जिनमें तप की शक्ति है उनका वरदान या श्राप मिथ्या नहीं होता।

यद्यपि देवांगना होने के कारण वे देवियाँ शक्ति-सम्पन्न थीं परन्तु तपबल के आगे उनकी एक भी न चली। श्राप के प्रभाव से उनके हाथ बंध गए और वे तड़पने लगीं। उन्होंने छूटने के अनेक उपाय किये परन्तु वे सफल न हो सकीं। देवांगनाओं को बंधी हुई देखकर विश्वामित्र ने कहा कि

देवियां— हम आपसे प्रार्थना करती है कि आप हमे बधनमुक्त कर दीजिए।

हरिश्चन्द्र— मैं तुम्हें छोडे तो देता हू परन्तु भविष्य मे कभी भी किसी ऋषि-आश्रम मे उत्पात मचाकर विघ्न मत करना।

देवियां— अब कभी ऐसा नही करेंगी।

एक क्रोधी तपस्वी के तपोबल की अपेक्षा एक गृहस्थ सत्यवादी का सत्य बल कही अधिक है। मनुष्य तपस्या चाहे जितनी करता हो परन्तु जो क्रोध का दमन न कर सके, उसकी अपेक्षा वह गृहस्थ प्रशसनीय है जो सत्य-परायण है।

हरिश्चन्द्र ने उन देवागनाओ को खोलने के लिए जैसे ही हाथ लगाया कि वे बधन-मुक्त हो गई और राजा के प्रति कृतज्ञता प्रगट करने लगीतथा आज्ञा पाकर विमान द्वारा आकाश मे उड गई व वहा से पुष्प वृष्टि करके आपस मे कहने लगी—

"हरिश्चन्द्र के चेहरे पर कैसा तेज झलक रहा है।"

यह सत्य का ही तेज है। उनके हाथो मे सत्य की कैसी विचित्र शक्ति है कि जिन बधनो से छूटने मे हम लोग देवागना होते हुए भी हार गई थीं, वे ही बधन हरिश्चन्द्र का हाथ लगते ही टूट गए। हरिश्चन्द्र की कृपा से ही हम लोग छूट सके हैं, अन्यथा न मालूम कब तक बधे रहना पडता। उसके हाथो मे कैसी असाधारण शक्ति है कि बधन खुलने मे क्षण-मात्र की भी देर न लगी।

जिस हरिश्चन्द्र मे सत्य का इतना तेज है जो पर दुःख भजक है, उसके सत्य को डिगाने मे पति कदापि समर्थ नही हो सकते हैं। यह उनकी व्यर्थ चेष्टा है।

"यद्यपि तुम्हारा यह कहना ठीक है परन्तु पति-आज्ञा पालन का ही यह एक फल है कि हम लोगो को सत्यमूर्ति हरिश्चन्द्र के दर्शन भी हो गए और साथ ही सत्य पर और भी दृढ विश्वास हो गया। हमे तो

आश्रम में बंधी हुई उन देवांगनाओं ने देखा कि कोई सुंदर छत्रधारी इध आ रहा है तो अनुमान लगाया कि हो-न-हो राजा हरिश्चन्द्र ही इधर आ रहे हैं। हमारे बड़े भाग्य हैं कि इस बहाने हमें राजा हरिश्चन्द्र के दर्शनों का लाभ मिलेगा। लेकिन संभव है कि हमारे चुप रहने से रा इस ओर ध्यान न दे सकें और हम बंधी हुई ही रह जाएं और दर्शन भ न हों। इसीलिए उन्होंने ऐसा विचार कर एक साथ चिल्लाने का निश्च किया और जिससे हमारी पुकार सुनकर राजा इस ओर आए।

इस प्रकार विचार करके देवांगनाओं ने करुणोत्पादक चीत्का प्रारंभ किया। उनकी दुःखभरी पुकार सुनकर हरिश्चन्द्र ने सेवकों आज्ञा दी जाकर पता लगाओ कि ऋषि आश्रम के पास यह कौन रो र है? सेवकगण आज्ञा पाकर आश्रम में गए और वापस लौटकर बतला कि आश्रम में चार कोमलांगी स्त्रियों को किसी ने बड़ी निर्दयतापू वृक्षों से बांध रखा है। उन्हीं की यह पुकार है और वे आपसे मुक्त देने के लिए प्रार्थना कर रही हैं।

इस बात को सुनकर राजा के हृदय में उनके प्रति दया उत्प हुई। वे तत्काल आश्रम में आए और उन देवांगनाओं से पूछा कि तुम किसने और क्यों बांध रखा है?

देवांगनाएं बोलीं— हम इस उपवन में क्रीड़ा करती हुई आदि तोड़ रही थीं अतः विश्वामित्र ऋषि ने क्रोधित होकर अपने त बल से हमें इन वृक्षों से बांध दिया है।

हरिश्चन्द्र— तुमको ऋषि-आश्रम में आकर विघ्न नहीं क चाहिए था। क्रीड़ा करने के लिए अन्य स्थानों की कमी नहीं है। तु अपराध तो अवश्य किया है लेकिन ऋषि ने जो दंड दिया है वह अप से बहुत अधिक है। इसके सिवाय मुनि को दंड देना भी उचित नहीं और दंड देना उनके अधिकार से परे की बात है। दंड देना राजा का है मुनि का काम दंड देना नहीं है।

देविया— हम आपसे प्रार्थना करती है कि आप हमे बधनमुक्त कर दीजिए।

हरिश्चन्द्र— मैं तुम्हे छोडे तो देता हू परन्तु भविष्य मे कभी भी किसी ऋषि-आश्रम मे उत्पात मचाकर विघ्न मत करना।

देविया— अब कभी ऐसा नही करेगी।

एक क्रोधी तपस्वी के तपोबल की अपेक्षा एक गृहस्थ सत्यवादी का सत्य बल कही अधिक है। मनुष्य तपस्या चाहे जितनी करता हो परन्तु जो क्रोध का दमन न कर सके, उसकी अपेक्षा वह गृहस्थ प्रशसनीय है जो सत्य-परायण है।

हरिश्चन्द्र ने उन देवागनाओ को खोलने के लिए जैसे ही हाथ लगाया कि वे बधन-मुक्त हो गई और राजा के प्रति कृतज्ञता प्रगट करने लगी तथा आज्ञा पाकर विमान द्वारा आकाश में उड गई व वहा से पुष्प वृष्टि करके आपस मे कहने लगी—

"हरिश्चन्द्र के चेहरे पर कैसा तेज झलक रहा है।"

यह सत्य का ही तेज है। उनके हाथो मे सत्य की कैसी विचित्र शक्ति है कि जिन बधनो से छूटने मे हम लोग देवागना होते हुए भी हार गई थी, वे ही बधन हरिश्चन्द्र का हाथ लगते ही टूट गए। हरिश्चन्द्र की कृपा से ही हम लोग छूट सके हैं, अन्यथा न मालूम कब तक बधे रहना पडता। उसके हाथो मे कैसी असाधारण शक्ति है कि बधन खुलने मे क्षण-मात्र की भी देर न लगी।

जिस हरिश्चन्द्र मे सत्य का इतना तेज है जो पर दुःख भजक है, उसके सत्य को डिगाने मे पति कदापि समर्थ नही हो सकते हैं। यह उनकी व्यर्थ चेष्टा है।

"यद्यपि तुम्हारा यह कहना ठीक है परन्तु पति-आज्ञा पालन का ही यह एक फल है कि हम लोगो को सत्यमूर्ति हरिश्चन्द्र के दर्शन भी हो गए और साथ ही सत्य पर और भी दृढ विश्वास हो गया। हमे तो

अपने मन को न्याय मे लगा देता है। जैसे योगी ससार के प्राणिमात्र को आत्मवत् समझते हैं वैसे ही न्याय करने वाला भी सब को आत्मवत् समझता है और दूसरे के सुख-दु ख का अनुमान अपने आत्मा मे करके न्याय कार्य करता है। ऐसा करने वाला ही न्याय नदी के पार उतर सकता है, अन्यथा वह बीच म ही रह जाता है और उनका न्याय अन्याय कहलाता है।

महाराज हरिश्चन्द्र का यह नियम था कि नित्य का कार्य नित्य ही कर डाला जाय। कार्य को बाकी रखकर प्रजा को पुन आने-जाने का कष्ट देना उन्हें अनुचित मालूम होता था। लेकिन आज के न्यायकर्ता प्राय न्याय कार्य को विशेष समय तक पटक रखते हैं। परन्तु ऐसा करना न्याय प्रणाली के विरुद्ध है।

न्याय के जितने भी मामले थे, उन सब का महाराज हरिश्चन्द्र ने फैसला कर दिया था। वे न्यायासन से उठने वाले ही थे कि द्वारपाल ने आकर निवेदन किया कि विश्वामित्र ऋषि पधारे हैं और आप से न्याय चाहते हैं।

इस समाचार को सुनकर राजा आश्चर्य मे पड गए कि विश्वामित्र तो ऋषि हैं, वे न्यायालय मे किस कारण आए हैं? यदि मेरे योग्य कोई कार्य था तो मुझे ही सदेशा देकर बुलवा लेना चाहिए था, परन्तु वे स्वय आए, यह क्यो? ऋषि, मुनि को न्यायालय की शरण लेना पडे, यह कदापि उचित नही है और फिर विश्वामित्र जैसे तपस्वी न्यायालय मे जाए, यह तो और भी आश्चर्य की बात है। राजा ने द्वारपाल को उत्तर दिया कि उन्हें सम्मान सहित ले आओ।

जिस प्रकार सर्प को देखकर दूसरे लोग तो भयभीत हो जाते हैं परन्तु सर्प का मत्र जानने वाला उससे भयभीत नहीं होता है। उस प्रकार द्वारपाल की बात सुनकर सभा के अन्य लोग तो विश्वामित्र के आने से सशक हो उठे परन्तु हरिश्चन्द्र को किसी प्रकार की शका या भय नहीं हुआ और नि शक थे।

शिष्यों की यह बात सुनकर विश्वामित्र अपने आपे में न रह सके और बोले-शायद हरिश्चन्द्र को मेरा मेरे तपोबल का और मेरे क्रोध का कुछ भी भय नहीं है। क्या इस पृथ्वी पर है कोई ऐसा मनुष्य जो मेरी उपेक्षा कर सके? क्या हरिश्चन्द्र को यह मालूम नहीं कि बड़े बड़े नृपतियों को मुख से किस प्रकार हार माननी पड़ी। हरिश्चन्द्र! अपने राजमद में अपने सत्य के अहंकार में और अपनी सहृदयता दिखलाने के लिए तूने देवांगनाओं को छोड़ तो दिया है परन्तु देख अब मैं तुझे कैसा दण्ड देता हूं कि तेरा सब घमंड मिट जाय और तू समझ सके कि तपस्वियों के और विशेषतः विश्वामित्र के अपराधियों को छोड़ने का क्या फल होता है? यदि तुझे इस कार्य का उचित दंड न दिया तो मेरे विश्वामित्र कहलाने को, मेरे तप को और मेरे क्रोध को धिक्कार है।

विश्वामित्र को हरिश्चन्द्र पर क्रोध होने के कारण रात-भर नींद नहीं आई। वे विचारते रहे कि कब सूरज निकले और कब मैं हरिश्चन्द्र को उसी की सभा में उसके द्रोह का दंड दूं।

क्रोध और क्षमा दया और हिंसा में कितना अन्तर है यह विश्वामित्र और हरिश्चन्द्र की दशा से स्पष्ट है। देवांगनाओं को बाँध कर भी विश्वामित्र को शांति प्राप्त न हुई लेकिन राजा हरिश्चन्द्र विश्वामित्र के भय से निश्चिन्त होकर बड़े ही सुख पूर्वक सोए।

नियमानुसार राजा हरिश्चन्द्र सूर्योदय से पहले ही उठकर अपने नित्यकर्म से निवृत्त हो गए एवं सूर्योदय के साथ-ही-साथ न्यायासन पर आकर विराज गए और न्याय कार्य में दत्त-चित हुए। वे एक-एक न्याय कार्य को इस प्रकार निपटाते जाते थे कि वादी और प्रतिवादी दोनों ही प्रसन्न हो उठते थे और अपनी हानि होने पर भी दोनों में से किसी को कुछ भी दुख नहीं होता था।

न्याय और योग के कार्य में बहुत कुछ समानता है। जिस प्रकार योगी आत्म-चिन्तन के समय अन्य सब बातों को भूल जाता है, उसी प्रकार न्याय करने वाला भी न्याय कार्य के आगे अन्य बातों को भूल कर

अपने मन को न्याय मे लगा देता है। जैसे योगी ससार के प्राणिमात्र को आत्मवत् समझते हैं वैसे ही न्याय करने वाला भी सब को आत्मवत् समझता है और दूसरे के सुख-दु ख का अनुमान अपने आत्मा मे करके न्याय कार्य करता है। ऐसा करने वाला ही न्याय नदी के पार उतर सकता है, अन्यथा वह बीच म ही रह जाता है और उनका न्याय अन्याय कहलाता है।

महाराज हरिश्चन्द्र का यह नियम था कि नित्य का कार्य नित्य ही कर डाला जाय। कार्य को बाकी रखकर प्रजा को पुन आने-जाने का कष्ट देना उन्हे अनुचित मालूम होता था। लेकिन आज के न्यायकर्ता प्राय न्याय कार्य को विशेष समय तक पटक रखते हैं। परन्तु ऐसा करना न्याय प्रणाली के विरुद्ध है।

न्याय के जितने भी मामले थे, उन सब का महाराज हरिश्चन्द्र ने फैसला कर दिया था। वे न्यायासन से उठने वाले ही थे कि द्वारपाल ने आकर निवेदन किया कि विश्वामित्र ऋषि पधारे हैं और आप से न्याय चाहते हैं।

इस समाचार को सुनकर राजा आश्चर्य मे पड गए कि विश्वामित्र तो ऋषि हैं, वे न्यायालय मे किस कारण आए हैं ? यदि मेरे योग्य कोई कार्य था तो मुझे ही सदेशा देकर बुलवा लेना चाहिए था, परन्तु वे स्वय आए, यह क्यो ? ऋषि, मुनि को न्यायालय की शरण लेना पडे, यह कदापि उचित नहीं है और फिर विश्वामित्र जैसे तपस्वी न्यायालय मे जाए, यह तो और भी आश्चर्य की बात है। राजा ने द्वारपाल को उत्तर दिया कि उन्हें सम्मान सहित ले आओ।

जिस प्रकार सर्प को देखकर दूसरे लोग तो भयभीत हो जाते हैं परन्तु सर्प का मन्त्र जानने वाला उससे भयभीत नहीं होता है। उस प्रकार द्वारपाल की बात सुनकर सभा के अन्य लोग तो विश्वामित्र के आने से सशक हो उठे परन्तु हरिश्चन्द्र को किसी प्रकार की शका या भय नहीं हुआ और नि शक थे।

१० दंड देने का अधिकार राजा को है

विश्वामित्र के न्यायालय में आते ही महाराज हरिश्चन्द्र सभासदों सहित खड़े हो गए और उनका सत्कार करने के लिए सिंहासन से उतरने लगे।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि सच्चा राजा किसी सम्प्रदाय का पक्षपाती नहीं होता किन्तु उसी धर्म का अनुयायी होता है जो सत्य होता है सत्य से अनुप्राणित होता है। राजा सभी धर्मों को समान दृष्टि से देखता है और समझता है कि मुझ पर तो शांति रक्षा का भार है। इसलिए सभी धर्मों को समान समझ कर उनके अनुयायियों को समान दृष्टि से देखता है और साधु संतों आदि का उचित सत्कार करना राजा का धर्म है। ऐसा राजा नीतिज्ञ माना जाता है।

लेकिन राजा को सिंहासन से उतरते देख विश्वामित्र ने क्रोध भरे शब्दों में कहा—बस राजा। सिंहासन पर ही ठहरो। मैं तुमसे सम्मान पाने की अभिलाषा से नहीं आया हूं। तुम न्यायाधीश हो। अतः मैं तो तुम से न्याय कराने की आशा से यहां आया हूं।

इस प्रकार विश्वामित्र की क्रोध भरी बात सुन और उनका सर्प कर स्वरूप तथा लाल-लाल आंखें देखकर सभासद तो कांप उठे किन्तु हरिश्चन्द्र को किंचित् भी भय न हुआ। उन्होंने नम्रता पूर्वक कहा—महाराज आप इतने क्रोधित क्यों हैं? न्याय और क्रोध आपस में दुश्मन हैं। प्रायः सच्चा मनुष्य भी क्रोध करने के कारण झूठा माना जाता है। यदि मेरे करने योग्य कोई न्याय है तो आप शान्तिपूर्वक विराजिए और आज्ञा दीजिए कि आप किस बात का न्याय चाहते हैं? मैं न्याय करने के लिए ही बैठा हूं अतः आपके लिए कोई दूसरा थोड़े हूं। मुझसे न्याय पाने का तो सबको अधिकार है।

राजा की शात और तेजोमय मुद्रा देखकर विश्वामित्र चकित रह गए। वे न्यायालय मे आने का पश्चात्ताप करके मन मे कहने लगे कि मैंने यहा आकर वडी भूल की। यदि मैं यहा न आकर अपने आश्रम मे वैठे ही इसे दड देता तो अच्छा होता, परन्तु अब तो मैंने ही आकर इससे न्याय की माग की है, इसलिए न्याय प्राप्ति के सभी नियमो का पालन करना पडेगा। मैंने सोचा तो यह था कि मैं आते ही अपना क्रोध दिखा-कर राजा को भयभीत कर दूगा। परन्तु यहा आकर तो मुझे अपमानित ही होना पडा।

राजा हरिश्चन्द्र ने विश्वामित्र को आसन दिया और सम्मान करते हुए कहा कि महाराज आज्ञा दीजिए कि आप किस बात का न्याय चाहते हैं।

विश्वामित्र— मैं जिस वात का न्याय चाहता हू, क्या तू उसे नही जानता जो मुझसे पूछता है।

हरिश्चन्द्र— महाराज शात होइए और विचारिए कि यदि मैं जानता होता तो आपको यहा पधारने का कष्ट ही क्यो करना पडता ?

विश्वामित्र— जैसे तू राजा है वैसे ही हम योगी है। जिस प्रकार तुझे राज्य के अधिकार हैं वैसे ही हमे आश्रम के अधिकार है। ऐसी स्थिति मे जिस प्रकार तू राज्य मे अपराध करने वाले को दड देता है, उसी प्रकार हम आश्रम मे अपराध करने वाले को दड दे सकते है या नही ?

हरिश्चन्द्र— महाराज, आश्रम राज्य-सीमा के ही अतर्गत है अत वहा अपराध करने वाला भी राज्य मे ही अपराध करने वाला समझा जाएगा। ऐसा अपराधी राज्य द्वारा ही दडित हो सकता है।

विश्वामित्र— हमारे आश्रम मे अपराध करे, हमारी अवज्ञा करे और हम उसे दड भी नही दे सकते ?

हरिश्चन्द्र— नही महाराज, आपको दड देने का अधिकार नही है। आपकी अवज्ञा करने वाला भी राज्य का अपराधी है और उसको दड देने के लिए ही राजा राज-दड धारण करता है।

विश्वामित्र— जान पड़ता है तेरे बुरे दिन आ गए हैं इसी से तुझे ऋषियों की प्रतिष्ठा का ध्यान नहीं है। जब तू हमारे बनाए हुए नियमों के अनुसार राज-कार्य करके अपराधियों को दंड देता है, तो हम अपने आश्रम के अपराधी को दंड क्यों नहीं दे सकते ?

हरिश्चन्द्र— आप लोगों के बनाए हुए नियम ही कह रहे हैं कि दंड देने का अधिकार केवल राजा या राजा द्वारा इस कार्य के लिए नियुक्त कर्मचारी को ही प्राप्त है दूसरे को नहीं। ऐसी अवस्था में मैंने ऋषियों की या आपकी कोई अप्रतिष्ठा तो नहीं की है।

विश्वामित्र— अच्छा एक बात और बता। हमने अपने अपराधियों को तपवन से बांधा था लेकिन इस पृथ्वी पर मेरा एक ही शत्रु प्रतिद्वन्द्वी और मेरी अवज्ञा करने वाला ऐसा है कि जिसने उनको छोड़ दिया। वह छोड़ने वाला अपराधी है या नहीं और यदि है तो किस दंड के योग्य है।

विश्वामित्र की इस बात को सुनते ही हरिश्चन्द्र को कल की बात स्मरण हो आई। वे समझ गए कि ऋषि ने अपने तपवन का प्रसंग बतलाते हुए यह बात मेरे लिए कही है। राजा ने हँसते हुए और व्यंग करते हुए कहा— महाराज यह बात तो मेरे लिए ही है। क्योंकि मैंने ही उन देवांगनाओं को बंधन मुक्त किया था। लेकिन ऐसा करने में न तो मेरा भाव आपसे दुश्मनी का था न प्रतिद्वन्द्विता का और न अवज्ञा करने का ही। वे लता-वृक्षों से बंधी दुःख पाती हुई चिल्ला रही थीं इसीलिए मैंने दया कर और उन्हें उनका कर्तव्य समझाकर छोड़ दिया था। ऐसी अवस्था में मेरा कोई अपराध नहीं है। इस मामले में आप वादी हैं और मैं प्रतिवादी हूं अतः यदि आप उचित समझें तो इस मामले का न्याय पंचों द्वारा करवा लिया जाय।

हरिश्चन्द्र का उत्तर सुनकर विश्वामित्र विचारने लगे कि मैंने तो यह सोचा था कि इस प्रकार इससे अपराध स्वीकार करा के इसी के मुंह से इसे दंड दिलवाऊंगा। परन्तु इसने तो मुझे ही अपराधी ठहराया है

और दड न देने की, अपनी कृपा वर्ता रहा है। मन मे यह विचार आते ही विश्वामित्र को निराशा हुई। वे असमजस मे पड गए कि यदि मैं राजा के कथन को ठीक मानता हू तो यह एक प्रकार से भरी सभा मे मेरा अपमान हुआ माना जाएगा।

विश्वामित्र पुन अपना क्रोध प्रगट करते हुए कहने लगे— तू तो अपने अपराध को स्वीकार करने के बदले, उलटा मुझ पर ही दोषारोपण करता है। तपस्वियो की बात मे बाधा डालने का तुझे कदापि अधिकार नही है लेकिन तूने अज्ञानवश इसे अपना ही अधिकार मान रखा है। सूर्यवश के सिंहासन पर तो ऐसे अज्ञानी को बैठना बिल्कुल उचित नही है। अत अपना राज्य भार दूसरे को देना ही ठीक है। अज्ञानी राज्य करने के योग्य नही होता है।

हरिश्चन्द्र—महाराज ! किसी दुखी का दुख मिटाना मेरा कर्तव्य है। मैंने कर्तव्य और करुणा की प्रेरणा से देवागनाओ को बधन मुक्त किया है। इसमे मेरा अपराध नही है और जब अपराध ही नही तो केवल आपको प्रसन्न करने के लिए यह कार्य अपराध नही माना जा सकता है। आप मेरा अपराध सिद्ध कीजिए और फिर मैं दड न लू तो यह मेरा अज्ञान है। ऐसी स्थिति मे मुझे राज्यभार दूसरे के हाथो मे सौंप देना ही उचित होगा। यदि कर्तव्य-पालन ही अज्ञान कहा जाएगा तो ज्ञान किसे कहेगे ? किसी दुख मे पडे हुए को दुख मुक्त करने मे, चाहे कायर और निर्दयी तो अज्ञान कहें परन्तु दयावान और वीर तो इसे ज्ञान ही मानेंगे तथा मौका पडने पर उसे दुख मुक्त करने की चेष्टा करेंगे। आपकी दृष्टि मे यदि देवागनाओ को छोड देना अज्ञान और अपराध है तो इसका पचो द्वारा निर्णय करा लीजिए। यदि पचो ने आपकी बात का समर्थन किया तो मैं दड का पात्र हू और साथ ही राज्यपद के अयोग्य हू। उचित तो यह था कि मेरे इस कार्य से आप यह विचार कर प्रसन्न होते कि मैंने तो क्रोधित हो उन देवागनाओ को बाध दिया था और राजा ने अपने राजधर्म का पालन किया। लेकिन इसकी जगह आप मुझे दोषी ठहराते हैं और मेरा अज्ञान बतलाते

है। आपको इस पर भी विचार करना चाहिए था कि यदि मेरा कार्य राज धर्म के विरुद्ध होता तो जो देवांगनाएं आपके तपोवन में बंधी थी वे छूटतीं कैसे ? महाराज जरा शांतिपूर्वक विचार कीजिए तो आपको मेरा यह कार्य अनुचित नहीं लगेगा।

दुराग्रही मनुष्य उचित— अनुचित और न्याय-अन्याय को न देख कर किसी भी प्रकार से अपनी हठ पूरी करना चाहता है। इसीलिए विश्वामित्र राजा से अपराध स्वीकार करने की हठ पकड़े हुए थे। लेकिन राजा किसी को भी प्रसन्न करने के लिए कदापि झूठ नहीं बोल सकता। विश्वामित्र ने सोचा कि मैं सन्तोष कर लूं और राजा को किसी भी प्रकार से नीचा नहीं दिखाऊँ तो यह मेरा और भी अपमान होगा। यदि मध्यस्थ द्वारा निर्णय कराता हूं तो निश्चय ही वे लोग मेरे पक्ष को झूठा बतला देंगे। एक भूल तो मैंने यहां आने-की की और अब पंचों से निर्णय कराता हू तो यह मेरी दूसरी भूल होगी। इस प्रकार तो राजा अपना अपराध स्वीकार नहीं करता है इसलिए अब अपराध स्वीकार कराने के लिए किसी दूसरे उपाय को अपनाना चाहिए। ऐसा विचार कर विश्वामित्र कपट भरी प्रसन्नता दिखलाते हुए बोले— हां तो तूने राजधर्म का पालन करते हुए उन देवांगनाओं को छोड़ा है, क्यों ?

राजा— हां महाराज।

विश्वामित्र— ठीक है लेकिन इसी प्रकार क्या अन्य सब बातो में भी राजधर्म का पालन करेगा ?

हरिश्चन्द्र— अवश्य ! यदि मैं किसी स्थान पर राजधर्म का पालन न कर सका तो फिर राजा कैसा ?

विश्वामित्र— यह बात तो तू जानता ही है कि राजधर्म में दान करना राजा का कर्तव्य बतलाया गया है और राजा से की गई याचना भी कभी खाली नहीं जाती।

हरिश्चन्द्र— जानता ही नहीं बल्कि पालन भी करता हूं।

विश्वामित्र— अच्छा हमारी एक याचना पूरी करेगा।

हरिश्चन्द्र— आप याचना कीजिये और मैं उसे पूरा करने मे असमर्थ रहू तब और कुछ कहियेगा ।

विश्वामित्र— मैं तुझसे ससागर पृथ्वी और तेरे राज-वैभव की याचना करता हू ।

विश्वामित्र की बात सुनकर हरिश्चन्द्र के चेहरे पर सल भी नही आया और प्रसन्न मन से कहा कि राज्य क्या यदि आप इस शरीर को भी मागते तो यह भी आपकी सेवा मे अर्पण करता। राज्य मांगकर तो आपने मेरे सिर का बोझ ले लिया है । अत इसके देने मे मुझे क्या आपत्ति हो सकती है ?

हरिश्चन्द्र ने पृथ्वी देने के लिये पृथ्वी पिड और सकल्प करने के लिये जल की झारी लाने की सेवक को आज्ञा दी ।

११ याचना पूरी करना राजधर्म है

दान तप और संग्राम यह तीनों ही कार्य वीरता होने पर होते हैं। लेकिन जो कायर हैं वे इन तीनों में से किसी एक को भी नहीं कर सकते हैं। यद्यपि भविष्य का विचार तो वीर लोग भी करते हैं, लेकिन वे भविष्य के कष्टों का अनुमान करके अपने निश्चय से विचलित नहीं होते हैं।

राजा को निर्भयता पूर्वक पृथ्वी-पिंड और जल की झारी मंगाते देख विश्वामित्र चकराए। उन्होंने सोचा तो यह था कि जब राज्य देने में हरिश्चन्द्र को संकोच होगा तब मैं कहूंगा कि देवांगनाओं को बन्धनमुक्त करने में तो राजधर्म का पालन किया और यहां हिचकिचाता है? जब उस समय नहीं सोचा था तो अब क्यों विचार करता है? इस युक्ति से बाध्य कर देवांगनाओं को छोड़ने का अपराध स्वीकार करा लूंगा और मेरी बात रह जाएगी। लेकिन अब मुझे क्या करना चाहिए? मालूम पड़ता है कि इसे बड़ा ही अहंकार है, लेकिन देखता हूं कि इसका यह अहंकार कब तक रहता है।

दुराग्रही मनुष्य दूसरे के सत्य और कर्तव्य-पालन को भी अहंकार समझता है। उसे इस बात का विचार नहीं होता कि अपनी झूठी हठ सिद्धि करने के लिए इस प्रकार के उपाय करना अहंकार है या सत्य का पालन करना अहंकार है।

पृथ्वी का पिंड और जल की झारी आ जाने पर राजा ने पृथ्वी पिंड हाथ में लेकर विश्वामित्र से कहा— महाराज ग्रहण कीजिए।

विश्वामित्र— राजा जरा सोच-विचारकर राज्य-दान कर और यह भी सोच ले कि ससागर पृथ्वी देने के पश्चात् राजा के पास क्या क्या रहता है?

हरिश्चन्द्र— महाराज विचारने का काम तो तब था जब मैं राज्य को किसी बुरे कार्य के लिए दान मे देता होता। मैं दे रहा हू और वह भी आप जैसे ऋषि को। फिर इसमे सोचना विचारना क्या है ?

राजा को इस प्रकार राज्य-दान मे तत्पर देख महामन्त्री खडा होकर हरिश्चन्द्र से कहने लगा— महाराज आप वात-ही-बात मे यह क्या कर रहे हैं ? बिना किसी बात का विचार किए, बिना किसी से सम्मति लिए अकेले ही राज्य दे रहे हैं ? कोई कार्य एकदम नही कर डालना चाहिए। किसी कवि ने कहा है—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेक' परमापदापदम् ।

हठात् किसी काम को नही कर डालना चाहिए। बिना विचारे काम करने से विपत्ति की सभावना रहती हैं।

आप यह तो विचारिए कि जरा-सी बात के लिए सारा राज्य ऐसे क्रोधी ऋषि के हाथ मे सौंपने से राज्य की क्या दुर्दशा होगी और प्रजा को कितना कष्ट होगा ? बात तो देवागनाओ के छोडने का अपराध स्वीकार करने की ही तो है और इस जरा-सी बात के लिए राज्य दे देना दूरदर्शिता कैसे कही जा सकती है ?

महामन्त्री की यह बात सुनकर विश्वामित्र के हृदय मे प्रसन्नता की लहर दौड गई कि यदि महामन्त्री के कहने से हरिश्चन्द्र मान जाय और अपना अपराध स्वीकार कर ले तो यह सब झझट ही मिट जाय। लेकिन हरिश्चन्द्र का उत्तर सुनते ही विश्वामित्र की आशा क्रोधपूर्ण निराशा मे परिणत हो गई।

हरिश्चन्द्र महामन्त्री की बात सुनकर बोले— महामन्त्री शुभ-कार्य में सहायता देना तुम्हारा कर्तव्य है, न कि बाधा देना। तुम जरा-इस बात का भी तो विचार करो—

धनानि जीवित चैव, परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत्।
सन्निमित्ते वरं त्यागो, विनाशे नियते सति ॥

बुद्धिमान मनुष्य अपने धन और प्राणों को दूसरों के लाभ के लिए त्याग देते हैं, क्योंकि इनका नाश होना तो निश्चित है। अतः परोपकार के लिए इनका त्याग करना श्रेष्ठ है।

मैं राज्य को जुए के दाव पर लगाता होऊं या किसी और कार्य में देता होऊं तो तुम्हारा कहना ठीक है परन्तु मैं तो उसे दान कर रहा हूं। शायद तुम्हारी दृष्टि में राज्य एक महान वस्तु हो और धर्म एक तुच्छ वस्तु हो परन्तु मेरी दृष्टि से राज्य तुच्छ और धर्म महान है। मैं तो धर्मपालन के लिए इस राज्य का दान में दे रहा हूं और इससे तो मेरे पूर्वजों की कीर्ति ही दिग्दिगन्त में फैलेगी कि सूर्यवंश ही एक ऐसा वंश है जिसने राज्य तक दान में दे दिया।

महामन्त्री! मानुकम्पा के वश होकर राज्य नहीं दे रहा हूं बल्कि ये याचक बनकर मांग रहे हैं। याचक की याचना पूरी करना राजा का धर्म है। मैं राज्य देने की बात कह चुका हूं अतः तुम्हारा कहना— सुनना व्यर्थ है। मैं अब अपने निश्चय से टल नहीं सकता किसी कवि ने कहा है—

विदुषां वदनाद्वाचः सहसा यान्ति नो बहिः।
याताश्चेन्न पराञ्चन्ति द्विरदानां रदा इव॥

विद्वान मनुष्य के मुख से सहसा कोई बात नहीं निकलती और यदि निकलती है तो फिर लौटती नहीं। जैसे हाथी के दांत बाहर निकलने के पश्चात् फिर भीतर नहीं जाते।

यदि अपराध स्वीकार करने की कहो तो मैं झूठ किसी समय और किसी भी अवस्था में नहीं बोल सकता। रही प्रजा की बात सो यदि प्रजा में भक्ति होगी तो वह विश्वामित्र को अपने अनुकूल बना लेगी। प्रजा से विरोध करके राजा एक पल भी नहीं ठहर सकता और न ऐसे राजा को प्रजा ठहरने ही देती है। इसलिए इस विषय में कोई विचारणीय बात नहीं है।

महामन्त्री । मैं राज्य विश्वामित्र ऋषि को दे रहा हू, किसी दूसरे की तो राज्य मागने की हिम्मत ही नही पड सकती । ये अपना राज्य छोडकर आए हैं, अत राज कार्य मे परिचित हैं । यही कारण है कि इन्होंने मुझ से राज्य मागा है । राज्य देने मे मेरी कोई हानि नही है, वल्कि इन्ही की है जो राजर्पि पद छोडकर फिर राज्य करना चाहते हैं । इस राज्य के देने-लेने मे बहुत वडा रहस्य है जो अभी अप्रकट है । यदि ऐसा न होता तो ये राजर्पि फिर राज्य करने की इच्छा क्यो करते ? ऐसे वडे आदमी की राज्य करने की इच्छा हुई हो तो समझना चाहिए कि इसमे कोई भेद है । राज्य देने मे अपनी किंचित् भी हानि नही है वल्कि लाभ ही है । इसलिए धर्म और सत्य पर विश्वास रखो और इस श्रेष्ठ कार्य मे विघ्न मत डालो ।

राजा की वात सुनकर महामन्त्री तो वैठ गए परन्तु विश्वामित्र विचारने लगे कि राजा ने तो मुझे राजर्पि-पद से भी गिराने का विचार किया है । यह अपना राज्य देकर मुझे त्यागी से भोगी वना रहा है । मैंने राज्य मागकर अच्छा नही किया और यदि अव नही लेता हू तो राजा की वात सत्य होती है कि देवागनाओ को छोडने मे राज-धर्म का पालन किया है । मुझे तो इसका घमण्ड दूर करना है । ऐसा करने मे मेरा राजर्पि-पद जाता है तो भले ही जाए, परन्तु अपनी वात नही जाने दू गा और न इसका घमण्ड ही रहने दू गा । यह राज्य तो दे ही रहा है, मैं इससे राज्य तो ले ही लू और फिर दूसरे दानादिक मे भी फसा लू, तव इसकी बुद्धि ठिकाने आएगी और फिर तो एक वार ही नही वल्कि दस वार यह अपना अपराध स्वीकार करेगा । ऐसे इसका घमण्ड नही जाएगा ।

विश्वामित्र, यहा आकर न्याय मागने और फिर राज्य मागने आदि वातो पर मन-ही-मन पश्चाताप तो करते हैं, परन्तु अपना दुराग्रह छोडने को तैयार नही हैं । ऐसा करने मे वे अपना अपमान समझते हैं । इसीलिए अपना राजर्षि-पद खोकर भी राजा से अपनी इच्छानुसार अप-राध स्वीकार कराना चाहते हैं, राजा को नीचा दिखाने के इच्छुक हैं ।

विश्वामित्र ने पुनः हरिश्चन्द्र से कहा— हेत राजा, अच्छी तरह विचार ले। पीछे से पश्चात्ताप करने से कोई लाभ न होगा। अविवेक पूर्वक, शीघ्रता में आकर जो कार्य किया जाता है, उसका दुःख जीवन भर नहीं भूलता।

हरिश्चन्द्र— महाराज पश्चात्ताप तो बुरा काम करके हुआ करता है, सत्कार्य में किस बात का पश्चात्ताप ? धन और राज्य ये सब परिवर्तनशील हैं, इनकी स्थिति सदा एक-सी नहीं रहती। किसी कवि ने कहा है—

दान, भोग अरु नाश तीन होत गति द्रव्य की।
नाहिन है को पास, तहां तीसरो बसत है॥

दान भोग और नाश ये धन की तीन गतियां हैं। जो अपने धन का उपभोग न दान में करता है और न भोग में उसके धन की तीसरी गति नाश अवश्य होती है।

महाराज यदि यह राज्य सुकृत्य में लग जाय तो प्रसन्नता की बात है इसमें पश्चात्ताप की कौनसी बात है ? मैं आपको प्रसन्न मन से समागर पृथ्वी और राज-पाट देता हूं आप लीजिए।

विश्वामित्र ने जब देखा कि यह अपने निश्चय पर दृढ़ है, तब क्रोधित होकर बोले— देखता हूं तू कैसा दानी है! अच्छा ला!

हरिश्चन्द्र ने पृथ्वी का पिण्ड विश्वामित्र के हाथ में देते हुए कहा— "इदं न मम" अब यह पृथ्वी मेरी नहीं है। मैं अपनी सत्ता के बदले विश्वामित्र— ऋषि की सत्ता स्थापित करता हूं।

विश्वामित्र ने राजा से दान पाकर आशीर्वाद दिया— "स्वस्ति भव"। तेरा कल्याण हो।

अब इस राज्य में तो इसका कुछ रहा नहीं है इसलिए इसे किसी और बात में फंसा दूं तब मेरा मनोरथ सिद्ध होगा। ऐसा विचार कर विश्वामित्र ने हरिश्चन्द्र से कहा—

राजा! जैसा तूने दान दिया है वैसा आज तक किसी दूसरे ने नही दिया। लेकिन तुझे मालूम होना चाहिए कि दान के पश्चात् दक्षिणा का दिया जाना आवश्यक है। अत जितना बडा दान तूने दिया है, उसी के अनुसार दक्षिणा भी होनी चाहिए।

हरिश्चन्द्र — हा महाराज, दक्षिणा भी लीजिए। महामन्त्री! कोष मे से एक सहस्त्र स्वर्ण-मुद्रा ला दो।

हारे जुआरी को एक दांव जीत जाने पर जैसी प्रसन्नता होती है, वैसी ही प्रसन्नता विश्वामित्र को हरिश्चन्द्र की यह वात सुनकर हुई। वे मन ही, मन कहने लगे कि अव यह अच्छा फसा है। अव इसकी बुद्धि ठिकाने लाए देता हू। जिस क्रोध को कारण न मिलने से विश्वामित्र अच्छी तरह प्रकट न कर सके थे, उसको प्रकट करने के लिए उन्हें कारण मिल गया। वे क्रोध प्रकट करते हुए कहने लगे— तूने मुझे राज-पाट दान मे दिया है, या मेरा उपहास कर रहा है।

हरिश्चन्द्र — क्यो महाराज?

विश्वामित्र— जव तूने राज-पाट दान मे दे दिया तो फिर कोष पर तेरा क्या अधिकार रहा, जो तू उसमे से दक्षिणा देने के लिए स्वर्ण-मुद्रा मगा रहा है। राज्य या उसके वैभव पर अब तेरा क्या अधिकार है? तू केवल अपने शरीर और स्त्री-पुत्र का स्वामी है। यदि तेरे या तेरे स्त्री पुत्र के शरीर पर कोई भी आभूषण है तो वह भी मेरा है। ऐसी अवस्था मे क्या मेरा ही धन मुझे दक्षिणा मे देता है? मैं इसलिए कहता था कि तू सूर्यवश मे उत्पन्न तो हुआ परन्तु अज्ञानी है। पहले तो तूने देवागनाओ को छोडके और फिर हठ करके अपना अपराध न मानने की अज्ञानता की और अब दिए हुए दान मे से ही दक्षिणा देने की अज्ञानता करना चाहता है। मुझे तेरी इस बुद्धि पर तरस आता है। इसलिए फिर कहता हू कि तू अपना अपराध स्वीकार कर लें, अन्यथा तुझे बड़े-बडे कष्टो का सामना करना पडेगा।

विश्वामित्र की यह बात सुनकर, हरिश्चन्द्र अपनी भूल पर पश्चाताप करने लगे कि वास्तव में अब कोष पर मेरा क्या अधिकार है, जो मैं उसमें से स्वर्ण-मुद्रा दे सकूं। उन्होंने विश्वामित्र से कहा-महाराज मुझ से यह भूल तो अवश्य हुई, जिसके लिए क्षमाप्रार्थी हूं। अब रही दक्षिणा की बात सो मैंने एक हजार स्वर्ण-मुद्रा देने के लिए कहा है। यह आपका मुझ पर ऋण है। मैं किसी दूसरे उपाय से आपका यह ऋण चुका दूंगा।

हरिश्चन्द्र को इस प्रकार नम्र देखकर विश्वामित्र को यह आशा हुई कि संभवतः अब समझाने-बुझाने पर यह अपना अपराध भी स्वीकार कर लेगा। ऐसा करने से मैं राज्य के झंझट से भी बच जाऊंगा और मेरा राजर्षि-पद भी बना रहेगा। उन्होंने हरिश्चन्द्र से कहा राजा! इस बात का तो विचार कर कि इतनी स्वर्ण-मुद्रा तुझे मिलेगी कहां से क्या इसके लिए भीख मांगेगा? यदि भीख मांगना चाहेगा तो मांगेगा कहां? मैं तो तुझे अपने राज्य में रहने न दूंगा।

हरिश्चन्द्र — महाराज! इक्ष्वाकुवंशी देना जानते हैं, मांगना नहीं जानते।

विश्वामित्र— तो फिर क्या करेगा जिससे मुहरें मिलेंगी।

हरिश्चन्द्र— यदि आप इसी समय मुहरें चाहते हैं तो अभी सिवाय शरीर के मेरे पास और कुछ नहीं है। यदि आप मेरे शरीर से किसी प्रकार अपना ऋण वसूल कर सकते हैं तो मैं इसके लिए सहर्ष तैयार हूं। अन्यथा मेरे पूर्वजों ने काशी-क्षेत्र को राज्य से इस लिए पृथक रख छोड़ा है कि वृद्धावस्था में राज्य त्याग के पश्चात वहां स्वतन्त्रता-पूर्वक जीवन व्यतीत कर सकें। यदि आपने इस नीति का उल्लंघन न किया और काशी क्षेत्र को पूर्ववत् राज्य से पृथक ही रखा तो मैं वहां कोई उद्योग करके आपको एक मास में एक सहस्र स्वर्ण-मुद्रा चुका दूंगा। मैंने वचन दिया है इसलिए उसे चुकाने के लिए मुझे अवकाश मिलना उचित है। आप राज नीतिज्ञ हैं, अतः मेरा विश्वास है कि आप मुझे इसके लिए अवकाश देंगे

और काशी क्षेत्र को राज्य से पृथक रखने की नीति का पालन भी अवश्य-मेव करेंगे।

विश्वामित्र मनमे सोचने लगे कि यदि मैं काशी-क्षेत्र पर अधिकार करता हू तो यह कार्य राजधर्म से विरुद्ध होगा। इसके सिवा यदि राजा को एक सहस्त्र स्वर्ण मुद्रा देने के लिए अवकाश नहीं देता हू तो नीति का भी भग करता हूं। यह सोचकर बोले—राजा ! अब भी समझ जा। एक सहस्त्र स्वर्णमुद्रा तेरे लिए काशी मे कही गडी नही हैं, जो तू निकालकर ला देगा। इसलिए मैं फिर कहता हू कि अपना अपराध मानले जिससे राज्य भी तेरे पास बना रहे और कष्ट मे भी पडना नहीं पडे। अपनी हठ छोड दे, वरना यही हठ तुझे कही का न रखेगी।

हरिश्चन्द्र— महाराज ! मेरी तो कोई हठ नही है। हठ तो आपकी है। आप ही बताइए कि कष्ट के भय तथा राज्य के लोभ से झूठ बोलू और जो कार्य अपराध नही है, उसे अपराध मान लू यह कैसे हो सकता है। आज तक न तो इस राज्य को कोई अपने साथ ले जा सका और न ही मैं इसे अपने साथ ले जाने मे समर्थ हू। इसके उपयोग का ऐसा सुअवसर फिर कब मिलेगा कि आप जैसे ऋषि को मैं इसे दान मे दू और अपने ऊपर एक सहस्त्र स्वर्ण-मुद्राओ का ऋण लू। आपकी कृपा से मुझे किसी प्रकार का कष्ट न होगा, वल्कि मैं तो उद्योगी वन जाऊगा। रही स्वर्णमुद्राओ की एक मास मे आने की वात सो यह कार्य कठिन नही है।

विश्वामित्र— अच्छा, तू अपना हठ मत छोड और देख कि तुझे किन-किन कष्टों को भोगना पडता है। अब अवधपति महाराज विश्वामित्र आज्ञा देते हैं, कि तू अपनी स्त्री और पुत्र के साथ, आज ही इस नगर को त्याग दे। अपने साथ तुझे एक भी कौडी ले जाने का अधिकार नही है। दक्षिणा के विषय मे भी निर्णय सुनाए देता हूं कि तू एक मास के भीतर दे देना। यदि एक मास से एक दिन भी ऊपर हुआ, तो मैं अपने

शाप से तुम्हें कुल सहित भस्म कर दूंगा। तपस्वी का शाप कदापि निष्फल नहीं होता।

विश्वामित्र की बात सुनकर हरिश्चन्द्र मुस्कराए और कहने लगे कि आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। साथ ही एक प्रार्थना और करता हूँ कि प्रजा ने अब तक जिस आनन्द से दिन व्यतीत किए हैं। आप भी उसे वही आनन्द प्रदान करेंगे और उसी नीति का अनुसरण करेंगे जिससे प्रजा सुखी रहे। आप उस पर दया करके इस प्रकार क्रोध न करें और न ही बात-बात में उसे भर्त्सना करने लगें। अन्यथा सभी प्रजा सुख-शान्ति रहित हो जाएगी।

राजा की ऐसी बातें सुनते ही विश्वामित्र की क्रोधाग्नि भड़क उठी और कहने लगे— क्या तू हमें राज्य करना सिखलाता है? हमें इतना भी ज्ञान नहीं है जो तुम्हें सिखलाने की आवश्यकता हुई। जिसके बनाए हुए नियमों के अनुसार तूने अब तक राज्य किया है आज उन्हीं को सिखाने के लिए तैयार हुआ है? जानता नहीं है कि अब यह राज्य विश्वामित्र का है। यदि मैं तुम्हारी प्रथा पर ही स्थिर रहूं तो फिर मेरा नाम ही क्या! तुम्हें अब राज्य या प्रजा की चिन्ता करने और उस विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। हमारी जो इच्छा होगी वह करेंगे अमात्यगण! तुम लोग अब जाओ और कल आओ। कल से सब नियम बदल दिये जायेंगे और उनके स्थान पर महाराज विश्वामित्र नये नियम प्रचलित करेंगे।

अमात्य तो पहले से ही क्रुद्ध हो रहे थे अब यह बात उन्हें और भी असह्य हो उठी। वे विचार करने लगे कि ये अभी तो भिखारी से राजा बने और इतनी ही देर में इनकी यह दशा है तो आगे क्या होगा? आगे राजा की उपस्थिति में भी जब उन्हें लज्जा नहीं तो आगे किसकी रक्षा होगी? यह विचारकर उन्होंने निर्भयतापूर्वक उत्तर दिया कि आप पुराने नियमों की जगह नये नियम किस प्रकार प्रचलित करना चाहते हैं। आपके नियम मानेगा कौन? आप शासन किस पर करेंगे। यह प्रजा

और यह प्रजा तभी तक है जब तक महाराज हरिश्चन्द्र यहा पर हैं। हम लोग, देश-विदेश जाकर चाहे कष्ट सहे, परन्तु आप जैसे अन्यायी के राज्य मे कदापि नही रहेगे। जिसने अपने दाता के साथ ऐसी कठोरता का व्यवहार किया है, वह हमारे साथ कब अच्छा व्यवहार करेगा ? आप अच्छी तरह समझ लें कि हमलोग उन्ही महाराज हरिश्चन्द्र की प्रजा हैं जिन्होने अपना राज्य देने मे भी सकोच नही किया तो हमे घर-बार आदि छोडने मे क्या सकोच होगा ? यदि आप राज्य ही करना चाहते हैं तो महाराज के बनाए हुए नियमो को उसी प्रकार रखिए और महाराज को यहा से जाने की आज्ञा को वापस लीजिए। यह बात दूसरी है, कि महाराज के बनाये हुए नियमो मे यदि कोई दोष हो तो उसे दूर करें परन्तु सर्वथा बदल कर आप शासन कदापि नही कर सकते हैं। महाराज चले नही कि हम लोग भी उन्ही के साथ चले जाए गे। वे राज्य के भूखे नही है। आप प्रसन्नता-पूर्वक राज्य कीजिए, परन्तु उन्हे यहा से जाने की आज्ञा न दीजिए। रही आपकी दक्षिणा की बात सो हम आपको दिए देते हैं। राज्य की सपति तो हमारी हो सकती है और है भी, परन्तु हमारी सपति पर राज्य का कोई अधिकार नही है। इसलिए आप एक हजार स्वर्णमुद्रा हमसे लेकर महाराज को ऋण मुक्त कीजिए और उन्हें यहीं रहने की आज्ञा दीजिए। इस कथन के अनुसार कार्य करने पर तो हम लोग आपसे सहयोग कर सकते हैं, अन्यथा ऐसा न हो सकेगा।

आज के लोग यदि उस समय सभासद् होते तो सम्भवत विश्वामित्र की हा-मे-हा मिलाने के सिवाय उनके विरुद्ध बोलने की हिम्मत तक न करते। उन्हे तो अपने पद-रक्षा की चिन्ता रहती। लेकिन उस समय के सभासद् सत्य-प्रिय थे। सत्य के आगे वे धन-सपति और मान-प्रतिष्ठा को तृणवत् समझते थे। यही कारण है कि विश्वामित्र जैसे क्रोधी के कथन का विरोध करने मे भी भय नही हुआ।

विश्वामित्र ने सभासदो की बातें सुनकर उन्हें डराना चाहा परन्तु वे सत्य की शक्ति से बलवान थे, इसलिए वे क्यों डरने लगे ?

विश्वामित्र क्रोध में आकर बड़बड़ाने लगे— दुष्टो ! तुमको पता नहीं है कि मैं कौन हूं ? मेरे सामने तुम्हारी यह कहने की हिम्मत ? देखो ! तुमको इसका कैसा दण्ड देता हू -तभी तुम्हें मालूम होगा कि विश्वामित्र की अवज्ञा करने का क्या फल होता है ? तुम लोगों का कहना मानकर यदि मैं हरिश्चन्द्र को यहीं रहने दू तो मेरा राज्य क्या होगा ? और मेरी आज्ञाओं का पूर्णतया पालन कैसे हो सकेगा ? मैं हरिश्चन्द्र को एक क्षण भी यहां नहीं रहने दे सकता और न उसके नियमों को ही चलने दूंगा ।

सभासद— जब हम कह रहे हैं कि महाराज राज्य के भूखे नहीं हैं, वे राज्य नहीं करेंगे वे तो केवल शान्ति से बैठे रहेंगे और उनकी और की-चिन्ता हम देते हैं तो फिर आप-उन्हें क्यों नहीं रहने देते ? इतना होने पर भी-आप उन्हें निकाल रहे हैं तो इसका अर्थ यही है कि आपको उन्हें कष्ट में डालना अभीष्ट है और उनकी अनुपस्थिति से लाभ उठा-कर आप प्रजा-को त्रास देना चाहते हैं । लेकिन यह ध्यान रखिए कि आपका यह सोचना दुराशामात्र है ।

इस प्रकार सभासदों के मुंह जो कुछ आया वह कहते हुए क्षुब्ध होकर अपने-अपने घर चल दिए । विश्वामित्र उनके इस व्यवहार से मन-में विचारने लगे कि मेरे सामने आज तक किसी को बोलने की हिम्मत न पड़ती-थी परन्तु आज मेरी यह शक्ति क्या लुप्त हो गई ? ये लोग सत्य के बल से बलवान हैं, इसी से मैं इनका कुछ नहीं कर सकता ।

जब सभासदों पर-कुछ प्रभाव पड़ा नहीं तो विश्वामित्र हरिश्चन्द्र से ही क्रोधित होकर कहने लगे— कुटिल ! तुझे खूब चाल रचा है । राज्य देकर दानी भी बन गया मुझे अपमानित भी-किया और अब प्रजा द्वारा विद्रोह करवाकर पुनः राज्य लेना चाहता है ? यदि तुझे राज्य का इतना मोह था तो तूने पहले दिया ही क्यों ?

हरिश्चन्द्र— महाराज दूसरों का क्रोध भी मुझ पर उतारेंगे । मैं तो आपके अधीन ही बैठा हूं कहीं गया तक नहीं जो इन्हें सिखाऊं ?

मैंने तो आप से पहले ही प्रार्थना की थी कि आप शाति मे काम लीजिए परन्तु मेरी इस प्रार्थना पर आप और भी क्रुद्ध हो गए। अब मुझे आज्ञा दीजिए और सन्तोष रखिए कि मैं यथासम्भव प्रजा के विचारो को आपके अनुकूल बनाने का प्रयत्न करूगा।

ऐसा कहकर महाराज हरिश्चन्द्र महल की ओर विदा हुए और इधर विश्वामित्र मन-ही-मन विचारने लगे कि क्या मैंने हरिश्चन्द्र को दण्ड दिया है ? नही-नही, मैं स्वय ही दण्डित हुआ हू। मैंने, अपने ही मुह हरिश्चन्द्र से दण्ड मागा है मैंने अपनी स्वतन्त्रता उसकी परतन्त्रता मे बदल ली है। मैंने अपने पैर मे स्वय ही राज्य की उस बेडी को पहन लिया है, जिसे मैं बडी कठिनता से तोड सका था। स्वतन्त्रता का तो उपयोग वह करेगा और परतन्त्रता मैं भोगूगा, जैसे मुझे अनुचित क्रोध करने का दण्ड मिला हो। हरिश्चन्द्र ! वास्तव मे तू धन्य है, किन्तु मैं भी तुझे सहज छुटकारा देकर अपना अपमान न होने दूगा। प्रारम्भ किए कार्य का अन्त देखे बिना पीछे नही हटूगा।

१२. मिलन

महाराज हरिश्चन्द्र रानी के महल की ओर चले उनके मन में तर्क-वितर्क हो रहे थे कि आज मुझे उस रानी के समीप जाना है, जिसने कहा था कि बिना सोने की पूंछवाला मृग-शिशु लाए मेरे महल में न आना। तो क्या वह मेरा तिरस्कार करेगी। रानी ऐसी मिथ्या-हठ करने वाली तो नहीं है और न उसे मेरा अपमान करना ही अभिष्ट है। यदि ऐसा होता तो इतने समय में उसका विचार अवश्य ही किसी-न-किसी रूप में प्रकट हो जाता। उसने मेरे अपमान होने योग्य कोई बात अब तक नहीं की इससे यही जान पड़ता है कि उसने मुझको अपने मोह-पाश से मुक्त करने के लिए ही ऐसा किया है। रानी! यदि मेरी कल्पनानुसार ही तेरा विचार है तो मैं तेरे समीप सोने की पूंछवाला मृगशिशु लेकर ही आ रहा हूं। राज्य देना कोई सरल कार्य नहीं है लेकिन मैंने तेरी सहायता से इसे सम्पन्न कर बताया है। अब तो मैं तेरे समीप आ ही रहा हूं, क्या तू मेरे इस कार्य में सहमत होगी? यह तो नहीं कहेगी कि आधे राज्य की स्वामिनी मैं थी और आपने मेरे अधिकार का राज्य क्यों दे दिया? यह तो नहीं कहेगी कि राज्य के भावी स्वामी रोहित के अधिकार पर कुठाराघात क्यों किया? यदि तूने विद्रोह किया तो सारी प्रजा तेरा साथ देकर विद्रोह मचा देगी और मेरा नाम कलंकित होगा कि अपनी स्त्री को राज्य के लिए मर काया। और अभी सब मालूम हो जाएगा कि मेरी ये आशंकाएं ठीक हैं या नहीं। लेकिन अब मैं तुझे रानी क्यों कह रहा हूं? अब तो तू उस गरीब की स्त्री है जिसके पास एक समय का भोजन भी नहीं है और इस अवस्था में भी जो एक-सहस्र स्वर्णमुद्रा का ऋणी है। तारा! आज तू मुझे क्या कहेगी? जो इच्छा हो सो कह मुझे सुनना ही होगा।

इस प्रकार, चिन्तासागर मे डूबे हुए हरिश्चन्द्र, रानी के महल मे
ये। दासियो से मालूम हुआ कि रानी समीप के उपवन मे है। राजा
चाप बाग मे गए और एक वृक्ष की ओट मे रानी और रोहित का
देखने लगे। उस समय रानी रोहित से विनोद करने के साथ-साथ
क्षा भी दे रही थी। वह रोहित से पूछ रही थी कि बेटा, तू कौन है?
स वश का है? आदि। बालक रोहित माता के इन प्रश्नो का क्या उत्तर
ा। वह चुपचाप माता के मुह की ओर देखने लगा। पुत्र को इस प्रकार
नी ओर देखते देख, रानी कहने लगीं-वत्स! तू वीर बालक है और
र-वश का है। अच्छा यह तो बता कि तू मेरा पुत्र है या अपने पिता का?
लक इसका भी क्या उत्तर देता? तब रानी ही स्वय उत्तर देती—
ा! माता का काम तो केवल जन्म देकर पालन करने का ही है परन्तु
क्ति दाता तो पिता ही हैं। मैं जो तेरी माता हू, वह भी तेरे पिता की
विका है। इसलिए सदैव पिता की आज्ञा का पालन करना और
भी भी हृदय मे भय या कायरता मत लाना।

बालक के हृदय पर माता की शिक्षा का प्रभाव स्थायी होता
। जिन शिक्षाओ को शिक्षकगण एक विशेष-समय मे भी बालक के
दयस्थ नही करा सकते, उन्ही को माता सहज मे ही हृदयस्थ करा सकती
। माता की दी हुई शिक्षा का प्रभाव ऐसा होता है कि यदि माता चाहे
ो अपने बालक को वीर बनाए या कायर, मूर्ख बनाए या विद्वान और
च्चरित्र बनाए या दुश्चरित्र। लाड-प्यार के समय मे ही नही बल्कि माता
गर्भ मे रहते समय से ही बालक शिक्षा प्राप्त करने लगता है। मातृ-
शिक्षा का बालक के जीवन पर बडा ही प्रभाव पडता है।

रानी की बातें सुनकर राजा की आशकाए बहुत कुछ मिट गईं।
मन-ही-मन कहने लगे— रानी! तुझे अभी यह नही मालूम है कि
ने तुझे कगाल बना दिया है और जिस पुत्र से तू विनोद कर रही है,
उसके भविष्य का भी कुछ ध्यान नही रखा है। देखूगा, राज्य देने का

समाचार सुनकर तू क्या कहती है ? परन्तु प्रश्न तो यह है कि आज समाचार को कहूं किस हृदय से।

राजा इस प्रकार के विचारों में डूबे हुए मौन खड़े थे कि इतने में रानी की दृष्टि राजा पर पड़ी। पति को इस प्रकार देख रानी ने सोचा इन्हें फिर से मेरे मोह ने घेर लिया है— अतः रोहित को सम्बोधन करते हुए कहा— बेटा चलो चलें। तुम्हारे पिताजी खेलने के लिए सोने का पुष्पमाला मृगशिशु तो लाए नहीं और देख देखने आ गए। यह कहती हुई रानी रोहित को लेकर चल दी। महाराज हरिश्चन्द्र मन में— "रानी ठहर मैं सोने का पुष्पमाला मृगशिशु ही लाया हूं परन्तु तू उसे पसन्द करेगी या नहीं।" कहते हुए दौड़कर रानी के सामने आकर खड़े हो गए और रोहित को गोद में उठा लिया। रानी अब तक यही समझ रही थी कि इन्हें पुत्र स्त्री-मोह ने सताया है, इसलिए वे मुस्कराते हुए यह कहती हुई चलती कि पुत्र को भी ले लो, मैं अकेली ही रहूंगी। रानी को इस प्रकार जाते देख राजा ने कहा— प्रिये तारा ! यह विनोद का समय नहीं है। मेरे आने का कारण तो सोचो। पति की यह बात सुनकर तारा ठिठक गई और विचारने लगी कि क्या आज पति को कोई मानसिक दुःख है जो इस प्रकार कह रहे हैं। ऐसी अवस्था में यदि मैं चली जाऊं तो मुझे धिक्कार है। रानी को खड़ी देख राजा बोले— प्रिये तारा ! आज का मिलन अन्तिम मिलन है। अब क्या ठीक कि कब मिलें।

इस बात को सुनकर रानी कांप गई और जैसे ही पति के मुख की ओर देखा तो सहम उठी। कातर होकर पति का हाथ पकड़ नम्रता पूर्वक बोली— नाथ ! आपने यह क्या कहा ? आज का मिलन अन्तिम मिलन क्यों है ? क्या इस दासी से रुष्ट हो के आपने अन्यत्र जाने का विचार किया है, या और किसी कारण से आपको ऐसा करना पड़ेगा ? प्रभो ! शीघ्र कहिए, आपके इस कथन का अभिप्राय क्या है ?

रानी की यह विनम्रता देख राजा आश्चर्य-चकित रह गए। वे विचारने लगे कि क्षणभर पहले कठोर बनी रानी इस प्रकार मेरा दुःख

ानने के लिए क्यो व्याकुल हो उठा है ? मैं अब तक यह निश्चय नही र पाया कि रानी स्वच्छ-हृदय है या कलुषित-हृदय, क्रूर है या सरल, भिमानिनी है या विनम्र ! कहा तो वह रूठी हुई जा रही थी और हाँ इस प्रकार नम्रता दिखा रही है ! मेरे प्रति इतना प्रेम ! मैंने तो ान का फल तत्क्षण ही प्राप्त कर लिया है।

इस प्रकार राजा को विचारमग्न देखकर, रानी व्याकुल हो उठी और कहने लगी— नाथ ! आप चुप क्यो हैं ? क्या दासी उस बात को सुनने के योग्य नही है ?

हरिश्चन्द्र— प्रिये ! ऐसी कौन-सी बात है जो तुम्हे सुनाने योग्य न हो। यदि मैं तुम्हे ही न सुनाऊगा, तो सुनाऊगा किसे ! तुम न सुनोगी तो सुनेगा ही कौन ? लेकिन सुनाऊ क्या ? कोई सुखदायक बात तो है नही, जो तुम्हें सुनाऊ । बल्कि बात को सुनकर तुम दु खी ही होगी।

तारा— यह तो मैं आपकी मुखमुद्रा से ही समझ चुकी हू, लेकिन मैं आपकी अर्द्धांगिनी हू, अत उस सारे दु ख को न उठा सकू गी तो कम-से-कम आधा तो बाट ही लू गी। इसलिए आप नि सकोच कहिए।

हरिश्चन्द्र— प्रिये ! कर्तव्यवश मैंने राज्य-वैभव सहित ससागर पृथ्वी विश्वामित्र को दान कर दी है। उन्होने याचना की और मैं उस याचना को ठुकराकर सूर्यवश को कलकित नही करना चाहता था। अब न तो अपना घर-बार है और न एक जून खाने को ही रहा है। बल्कि दक्षिणा की एक सहस्र स्वर्ण-मुद्राओ का कर्जदार हू।

तारा— प्राणाधार ! क्या यह दु ख की बात है ? क्या इसी बात को सुनाने मे सकोच हो रहा था ? मैं तो समझती थी कि कोई ऐसी बात हुई है जिसके कारण सूर्यवश के साथ-साथ आपको भी कलक लगने की आशका है। यह तो महान् हर्ष की बात है। ससागर पृथ्वी का दान, ऊपर से एक सहस्र स्वर्णमुद्रा की दक्षिणा और लेनेवाले विश्वामित्र जैसे ऋषि, इससे बढकर सौभाग्य की बात और क्या हो सकती है ? नाथ ! आज मेरा मस्तक गर्व से ऊ चा उठ गया कि मेरा पति ससागर पृथ्वी का

जाता है। ऐसे दान करने वाले को भी रहने-खाने की चिन्ता हो तो यह आश्चर्य की बात है। रहने-खाने की चिन्ता तो जब पशु-पक्षी भी नहीं करते उनमें हम तो मनुष्य हैं। आपके अटल-सत्य के प्रभाव से सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्द है। आप किसी प्रकार की चिन्ता न कीजिए।

जब तक तो राजा को चिन्ता थी कि रानी को राज्यदान की बात असह्य हो उठेगी और वह विपत्ति की कल्पना से कांप जाएगी और मेरा विरोध करेगी। लेकिन रानी की बात सुनते ही राजा की चिन्ता दूर हो गई। वह मन-ही-मन कहने लगे— तारा! मैं तुझे आज ही पहचान सका हूं। मैं नहीं जानता था कि तू सहानुभूति की मूर्ति है। मैंने राज्य दान नहीं दिया बल्कि त्रिलोक की सम्पत्ति से बदला किया है। लेकिन तारा अभी तेरी एक परीक्षा और शेष है।

हरिश्चन्द्र ने तारा से कहा— प्राणवल्लभे! तुमने मेरे इस कार्य का विरोध नहीं किया जिसके लिए तुम्हें धन्यवाद देता हूं। क्योंकि आगे चलकर ऐसी-ऐसी स्त्रियां होंगी जो विपत्ति के समय भी यदि पति उनका एक कमरा भी दे देगा तो वे उसका विरोध करेंगी और कलह मचा देंगी।

तारा— आर्यपुत्र! क्या मैं सुख की ही साथी हूं? मैं राज्य के साथ विवाही गई हूं या आपके साथ? यदि आपके साथ तो मेरे लिए आप बड़े हैं या राज्य? और आपने जो दान दिया है उसमें मेरा भी तो हिस्सा है। फिर मैं विरोध क्यों करूं? भविष्य की स्त्रियां जो अपने आपको पति की अर्द्धांगिनी मानेंगी वे तो कदापि पति के किसी उचित कार्य का किसी समय भी विरोध नहीं करेंगी लेकिन जो पति की अपेक्षा सम्पत्ति को विशेष समझेंगी वे अवश्य ही पति के उचित कार्य में सम्पत्ति व्यय करने पर भी विरोध करेंगी। उनके बारे में तो कुछ भी विचारना व्यर्थ है परन्तु जो बुद्धिमान होंगी वे मेरे चरित्र से कुछ-न-कुछ शिक्षा ही लेंगी।

हरिश्चन्द्र— प्रिये! तुम्हें और तुम्हारे माता पिता को धन्य है, वह नगर धन्य है जहां तुम्हारा जन्म हुआ। साथ ही मैं भी धन्य हूं जिसे तुम्हारा पति बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

तारा— नाथ ! सीमा से अधिक किसी कि प्रशसा करना भी उसका अपमान है। अत अब आप क्षमा कीजिए और इस सेविका की ऐसी प्रशसा न करिए, जिसके कि वह योग्य नही है।

हरिश्चन्द्र— अच्छा प्रिये, अब ऐसी वातो मे समय लगाना उचित नही है। क्योकि मुझे आज ही यहा से जाना है और एक मास के भीतर ही विश्वामित्र के ऋण से मुक्त होना है। यदि इस अवधि मे मैं ऋणमुक्त न सका तो विश्वामित्र श्राप देकर मेरे कुल का नाश कर देंगे। अत उचित समझता हू कि इस अवधि तक मैं तुम्हे तुम्हारे पिता के यहाँ पहुचा दू ।

यह वात सुनकर रानी को हार्दिक दु ख हुआ लेकिन अपनी पीडा को धैर्य से दबाते हुए कहा— प्रभो ! आप मुझे पिता के घर क्यो भेजते हैं ? क्या यही रहते हुए ऋणमुक्त होने का कोई उपाय नही कर सकते ?

हरिश्चन्द्र— न प्रिये, अब हम लोग यहा नही रह सकते। विश्वामित्र की आज्ञा आज ही राज्य से चले जाने की है।

तारा— तो आपने कहा जाने का विचार किया है ?

हरिश्चन्द्र— सिवाय काशी के और कोई ऐसा स्थान नही, जो राज्य से वाहर हो।

तारा— तो क्या मैं काशी नही चल सकती ?

हरिश्चन्द्र— प्रवास और वन के दु ख तुम सह न सकोगी, इसलिए तुम्हारा अपने पिता के घर जाना ही अच्छा है।

तारा— जीवन-सर्वस्व ! आप विचारिए तो सही कि आपके राज्य से वाहर चले जाने और मेरे इसी राज्य मे रहने पर विश्वामित्र की आज्ञा का पूरी तरह पालन कैसे होगा ! मैं आपकी अर्द्धांगिनी हू और मेरे यही रहने पर आपका आधा ही अग राज्य से वाहर गया माना जाएगा, इसके सिवाय जिन कष्टो को आप सह सकेंगे, उन्हे मैं क्यो न सह सकू गी ? नाथ ! मैं और सब कुछ सुन सकती हू पर यह वात आप मुझे न सुनाइए। छाया काया के, कुमुदिनी जल के, चन्द्रिका चन्द्र के और पत्नी पति के साथ ही रहेगी,

विलग नहीं। मुझे आपके साथ रहने में जो आनन्द है वह पृथक रहने में नहीं। बिना आपके मैं स्वर्ग को भी तिलांजलि दे सकती हूं परन्तु आपके साथ नरक में भी मैं आनंद ही मानूंगी। मछली को जैसे जल से निकाल देने पर सब आनंददायक वस्तुएं जल के बिना सुखदायी नहीं होती वैसे ही स्त्री के जीवन— पति के बिना स्त्री को भी सब सुख दुःख ही हैं। अतः इस दासी को अपनी सेवा से विलग न कीजिए और चाहे जो कुछ करिए।

हरिश्चन्द्र— प्राणप्रिये! अभी तुम्हारा मेरे साथ चलना उचित न होगा। मैं जहां जा रहा हूं वहां रहने के लिए न तो कोई निश्चित-स्थान है और न किसी उद्योग का ही प्रबन्ध है। यहां तक कि एक समय का भोजन भी पास नहीं है। ऐसी दशा में मैं तुम्हें अपने साथ ले जाकर कष्ट में नहीं डालना चाहता। इसके सिवाय स्त्री-जाति स्वभावतः सुकुमार होती है। तृषा क्षुधा मार्ग के कष्ट आदि सहन करने के योग्य नहीं होती। कदाचित् तुमने इन कष्टों को सह भी लिया तो काशी पहुंचकर मैं तुम्हारे खाने रहने आदि की चिन्ता करूंगा या ऋणमुक्त होने की? इन सब बातों पर ध्यान देकर तुम्हें पिता के यहां रहना ही उचित है। यद्यपि विश्वामित्र ने मेरे साथ ही तुम्हें भी राज्य से चले जाने की आज्ञा दी है परन्तु मैं उनसे इस बात की याचना कर लूंगा कि वे तुम्हें अपने पिता के यहां रहने की आज्ञा दे दें।

तारा— प्राणनाथ! मैं आपसे पहले ही प्रार्थना कर चुकी हूं कि आपकी सेवा के बिना मैं एक क्षण भी नहीं रह सकती। मैंने जिन कष्टों को नहीं सहा है तो आप भी कहां उनके अभ्यस्त हैं? यदि आप सहन करने में समर्थ होंगे तो मैं क्यों असमर्थ रहूंगी? रहा मेरे खाने-पीने का प्रश्न सो जिस प्रकार आप रहेंगे उसी प्रकार मैं भी रहूंगी। प्रभो! ऋण की चिन्ता आपको ही नहीं मुझे भी है। क्योंकि उस ऋण में आधी रकम की ऋणी मैं भी हूं। सुख और लाभ के समय में तो पति के साथ रहे और दुःख तथा हानि के समय पति से पृथक रहे यह पत्नी का कर्तव्य नहीं है। किसी कवि ने कहा—

प्रारम्भ कुसुमाकरस्य परितो यस्योल्लसन्मजरी,
पुंजे मंजुलगुंजितानि रचयस्तानातनोरुत्सवान् ।
तस्मिन्नद्य रसाल शाखिनिदशा दैवात् कृशामचति,
त्वं चेन्मुंचसि चचरीक विनय नीचस्त्वदन्योऽस्तिक ॥

हे भ्रमर ! वसत के आते ही जब आम मे मजरिया खिल उठी तब तो तूने उसके चारो ओर मजु-मजु गुजार करते हुए खूब मजा लिया और अब दैववशात् आम के कृश हो जाने, पुष्प-विहीन हो जाने पर यदि तू उससे प्रेम न रखेगा तो तुझसे बढकर नीच और कौन होगा ?

स्वामी, जब भ्रमर भी ऐसा करने पर नीच कहलाता है तब मनुष्य और विशेषत पत्नी का ऐसा व्यवहार क्योकर उचित कहा जा सकता है ? नाथ मैं क्षत्रिय-कन्या हू, वीर पत्नी हू और वीर माता हू । कष्टो के भय से मैं आपकी सेवा का त्याग कदापि नही कर सकती । प्राणवल्लभ ! क्षत्रिय लोग देना जानते हैं, याचना करना नही जानते । अत आप मेरे रहने के लिए विश्वामित्र से भीख मागें, यह सूर्यवशी राजा और ससागर-पृथ्वी के दाता के लिए तो और भी विशेष कलक की बात है । इसलिए कृपा करके आप ऐसी निष्ठुर आज्ञा देकर इस दासी का और अधिक अपमान मत कीजिए । यह सेविका, बिना आपकी सेवा के अपना जीवन नही रख सकेगी, पति से वियोग होने की अपेक्षा मृत्यु को बुरा नही समझेगी ।

हरिश्चन्द्र— प्रिये ! कहा तो तुमने सोने की पूछवाला मृगशिशु लाए बिना मुझे महल मे आने से ही रोक दिया था और कहा आज इस प्रकार साथ चलने को कह रही हो ?

तारा— नाथ ! यह बात तो मैं भूल ही गई थी । आपने खूब याद दिलाई, आज तो आप सोने की पूछवाला मृगशिशु लेकर ही पधारे हैं । क्या राज्य का दान करना कोई साधारण कार्य है ? अपने इस सोने की पूछवाले मृगशिशु के समान असम्भव कार्य को सम्भव कर दिखाया है। फिर मेरी प्रतिज्ञा अपूर्ण क्यो कहला सकती है ? प्रभो ! मैंने आपके साथ

जो मान का व्यवहार किया था वह इसी अभिप्राय से कि आप असम्भव कार्य को भी संभव कर दिखाएं। मेरी यह अभिलाषा पूर्ण हुई। अब मैं आपसे उस निष्ठुर व्यवहार के लिए क्षमा-याचना करती हूं।

हरिश्चन्द्र— तारा! मैं आज तुमको समझ सका कि तुम कौन हो मेरे प्रति तुम्हारे क्या भाव हैं और मेरे काम के लिए तुम अपने स्वार्थ को किस प्रकार ठुकरा सकती हो। कोई दूसरी स्त्री तुम्हारी समता करने के लिए युवावस्था में पतिसुख छोड़ने और इस प्रकार त्याग दिखाने में कदापि समर्थ नहीं हो सकती। यद्यपि मैंने अपना राज्य दान कर दिया है, तथापि उसके फल-स्वरूप तुम मुझे प्राप्त हुई हो। तुम मेरे लिए अमूल्य हो। सांसारिक लोगों की यह प्रथा है कि विदेश-गमन के समय मूल्यवान पदार्थ को साथ न ले जाकर किसी स्थान पर सुरक्षित रख देते हैं। इसी के अनुसार मैं भी तुम्हें तुम्हारे पिता के यहां सुरक्षित रखने में अपना लाभ देखता हूं।

तारा— स्वामी! आप और सब कुछ कहिए, परन्तु मुझे आपकी सेवा से दूर रखने का विचार भी न कीजिए। सुख के समय स्त्री चाहे पति से दूर रहे परन्तु दुःख के समय जो स्त्री पति का साथ छोड़ देती है वह स्त्री नहीं वरन् स्त्री-जाति का कलंक है। यदि आपको मेरी प्रशंसा करके इस प्रकार अपमानित करना है, तारा के नाम की गणना भी ऐसी कलंकिनी स्त्रियों में ही करानी है तब तो जैसी इच्छा हो वैसा कीजिए, अन्यथा इस दासी को साथ रखकर देखिए कि यह आपकी कैसी सेवा करती है। उस समय आप यह भी परीक्षा कर सकेंगे कि यह दासी आपकी अर्द्धांगिनी कहलाने के योग्य है, या नहीं। प्रभो! आपने जो युक्ति दी है उसके अनुसार भी विपत्ति के समय मूल्यवान पदार्थ को समय-असमय के लिए साथ रखा जाता है छोड़ा नहीं जाता और उसको सुरक्षित रखकर विपत्ति सहीं जाय यह नीति-विरुद्ध सिद्धान्त है। नाथ! इस दुःखिनी के लिए पति वियोग का दुःख असह्य है और वह भी कष्ट के समय। इस दासी की शोभा तो आपके ही साथ है। जिस प्रकार अब तक राज-सुख भोगने में

यह सेविका आपकी सहयोगिनी रही है उसी प्रकार कष्ट भोगने मे भी सह-योगिनी रहेगी । पति-पत्नी-सम्बन्ध ही सहयोग के लिए होता है, अत मुझे इस समय अपने सहयोग से वचित न कीजिए। मैं अपने कारण आपको किसी प्रकार भी कष्ट न होने दूगी, बल्कि जो कष्ट होगे, उनमे से आधे मैं बाट लूगी । जिस प्रकार अगरबत्ती की परीक्षा उसके जलने पर होती है, वैसे ही स्त्री की परीक्षा कष्ट मे होती है । सुख के समय स्त्री का पति-भक्त होना तो कोई विशेष बात नही है । किन्तु उसकी परीक्षा तो सकटकाल मे ही होती है । इसलिए आप दया करके मुझे इस कसौटी के सुयोग से दूर न कीजिए । मैं अपने लिए आपको कोई चिन्ता न होने दूगी । इतने पर भी यदि आप मेरी प्रार्थना स्वीकार न करेंगे तो मेरे लिए मृत्यु का आलिगन आवश्यक हो जाएगा।

हरिश्चन्द्र मन-ही-मन तारा की प्रशसा और अपने भाग्य की सराहना करते हुए कहने लगे— एक तो वे स्त्रियाँ हैं, जो दु ख के समय पति से पृथक् हो सुख से रहने मे प्रसन्न होती हैं और एक तारा है, जिसने सुख के समय तो मुझे अपने से दूर रखा परन्तु दु ख के समय मुझसे दूर नही रहना चाहती । यदि ऐसे समय मे किसी दूसरी स्त्री से कहा जाता कि तुम दु ख मे साथ न रहो पर सुख मे रहो, तो वह प्रसन्न होकर कहती कि अच्छा हुआ जो मुझे इस दु ख से छुटकारा मिला । परन्तु धन्य है तारा, जो इतना समझाने-बुझाने पर भी इस समय मेरे साथ ही चलना चाहती है ।

राजा ने जब देखा कि तारा किसी प्रकार भी मेरा साथ न छोडेगी तो उन्होंने और विशेप समझाना अनावश्यक समझा । उन्होने कहा— तारा, यदि तुम्हारी यही इच्छा है तो देर न करो, शीघ्र ही तुम और रोहित तैयार हो जाओ । लेकिन इस बात का ध्यान रहे कि साथ मे एक कौडी भी लेने की आवश्यकता नही है । वस्त्र भी इतने साधारण हों कि जिनसे अधिक साधारण और हो ही नही सकते और इतने ही हो कि जिनके बिना काम न चले ।

१३ दुराग्रह टस से मस न हुआ

सभासदों के सभा छोड़कर जाते ही समस्त नगर में यह समाचार बिजली की तरह फैल गया कि आज राजा ने राजवैभव सहित ससागर पृथ्वी विश्वामित्र को दान में दे दी है और विश्वामित्र ने उन्हें तत्काल ही नगर छोड़ने की आज्ञा दी है। इस भीषण संवाद को सुनकर नगर निवासियों में खलबली मच गई। जनता जहां-तहां झुण्ड-के-झुण्ड एकत्रित हो इसके बारे में चर्चा कर रही थी कि राजा ने तो इस राज्य रूपी परतंत्रता से अपने को स्वाधीन कर लिया परन्तु अब हमारी क्या दशा होगी? उस विश्वामित्र को धिक्कार है जिसे ऋषि होकर राज्य का लोभ हुआ। उस निर्दयी को राजा से राज्य लेते हुए और उन पर एक सहस्र स्वर्ण-मुद्रा का ऋण लादते लज्जा भी नहीं आई! उस ऋषि से तो हम गृहस्थ ही भले जो छल द्वारा किसी की संपत्ति तो नहीं हड़पते हैं। उस पापी पर वज्र भी नहीं गिरा। राजा से ऐसा व्यवहार करते समय उसका हृदय क्यों नहीं फट गया और वह जीभ टुकड़े-टुकड़े क्यों नहीं हो गई जिसने राजा से राज्य मांगकर दक्षिणा के जंजाल में फंसा लिया और नगर छोड़कर जाने की आज्ञा दी है। इस प्रकार जिसके मुंह जो आया वह कहने लगी और विश्वामित्र को धिक्कारने लगी।

जो राजा प्रजा का पुत्रवत् पालन करता है, उसके दुःख में दुःखी और सुख में सुखी होता है जिसके कार्य न्याय और धर्म के विरुद्ध नहीं होते उस राजा को प्रजा भी पितृवत् समझती है और ऐसे राजा के लिए अपना तन-मन धन सब अर्पण करने में सौभाग्य मानती है। लेकिन जो राजा प्रजा को कष्ट में डालता है और उनके सुख व अधिकारों की उपेक्षा करता है, केवल अपने ही आनंद में आनंद मानता है उसकी प्रजा भी

नेता— हमने सुना है कि महाराज हरिश्चन्द्र ने आपको राज्य दान मे दिया है और आज से आप हमारे राजा हुए हैं।

विश्वामित्र— हा।

नेता— राजा का कर्तव्य है कि प्रजा के दु खो को ध्यानपूर्वक सुनकर उन्हें दूर करने का प्रयत्न करे।

विश्वामित्र— तुम अपना दु ख तो कहो।

नेता— हमने सुना है कि जिसने अपना राज्य-वैभव एक क्षण मे दान कर दिया, अपने स्त्री, पुत्र की भी किंचित् चिन्ता न की, उस महा-उदार को आपने एक-सहस्र स्वर्ण-मुद्रा का ऋणी बनाकर यहा से चले जाने की आज्ञा दी है।

विश्वामित्र— शायद तुम लोगों को बात का अच्छी तरह पता नहीं है। हरिश्चन्द्र ने मेरे आश्रम की वन्दिनी देवागनाओ को छोड दिया था। जिसका मैं उपालम्भ देने आया और मैंने उससे केवल यही कहा कि तू अपना अपराध स्वीकार कर ले, परन्तु वह तो ऐसा निकला कि अपराध स्वीकार करना तो दूर रहा, उल्टे कहने लगा कि मैंने उन्हे दया करके राज-धर्मानुसार छोडा है। मैंने कहा— राज-धर्म तो दान देना भी है, तो क्या तू अपना राज्य दान कर सकता है ? बस इसी पर उसने अपना राज्य मुझे दान कर दिया है। अब तुम्ही बताओ कि जो राजा ऋषियो के आश्रम की वन्दनियो को छोड दे, हठ मे पडकर अपना अपराध भी स्वीकार न करे और बात-की-बात में अपना राज्य दूसरे को सौंप दे, वह राज्य करने योग्य कैसे कहा जा सकता है ?

नेता— उन्होने आपको राज्य दान दिया है तो आप प्रसन्नता-पूर्वक राज्य कीजिए, हमे इस विषय मे कुछ भी नही कहना है। बल्कि हमारी प्रार्थना तो यह है कि आपने उनके ऊपर जो ऋण लाद रखा है, वह हमसे ले लीजिए। यदि अधिक लेने की इच्छा हो तो अधिक ले लीजिए, परन्तु यह स्वतन्त्रता दे दीजिए कि उनकी जहा इच्छा हो, वहां रहें। उन्हें यहा से जाने के लिए बाध्य न कीजिए। हरिश्चन्द्र हमे पिता

से प्रभावित हो गया। एक मैं हूं जो वृक्षों की छाया में रहनेवाला भिक्षान्न से निर्वाह करनेवाला होकर आज चक्रवर्ती राजा बनने जा रहा हूं और एक यह ससागर पृथ्वी का स्वामी महाराज हरिश्चन्द्र है जिसने प्रसन्नता के साथ अपना सर्वस्व मुझे देकर, ऊपर से ऋण मोल लिया है। हम दोनों में विजयी कौन हुआ— मैं या हरिश्चन्द्र ? एक तो इस राज्य रूपी जेल से छूटकर स्वतन्त्र हो गया और दूसरा मैं जो अपनी स्वाधीनता को क्रोध-सागर में डुबा इस राज्यरूपी जेल में आकर बन्दी हो गया हूं। तपोबल और सत्यबल के संग्राम में किसकी पराजय मिली ? हरिश्चन्द्र ! यद्यपि मेरा तपोबल तुम्हारे सत्यबल से परास्त हो गया परन्तु मैं सहज में ही अपने तपोबल को कलंकित और तुम्हारे सत्यबल को प्रशंसित नहीं होने दूंगा। मैं अन्त तक अपने को कलंक से बचाने का उपाय करूंगा। यद्यपि क्रोध ने मेरा सर्वनाश कर दिया है मुझे त्यागी से भोगी बना दिया है मैं राजर्षि ही नहीं ब्रह्मर्षि भी हो जाऊं तो क्या ? परन्तु मैं इस दुष्ट क्रोध पर विजय नहीं पा सका हूं। फिर भी इस समय इस तरह पश्चात्ताप करूंगा और हरिश्चन्द्र को राज्य लौटा दूंगा तो संसार में मेरी निन्दा होगी तथा मुझे मार्ग चलना ही कठिन हो जाएगा।

विश्वामित्र इसी प्रकार के विचारों में निमग्न थे कि सेवक ने प्रजा के प्रतिनिधि-मंडल के आने की सूचना दी। विश्वामित्र समझ गए कि ये लोग हरिश्चन्द्र के ही विषय में कुछ कहने आए होंगे। ये लोग निश्चित ही प्रशंसा के पात्र हैं परन्तु इस समय उनको मुझसे किसी भी बात की आशा करना व्यर्थ है, फिर भी उनकी बात सुनना उचित है। यह सोचकर उन्होंने प्रतिनिधि-मंडल के आने की आज्ञा दी।

प्रतिष्ठित प्रजाजनों के आने और उनके प्रणाम कर चुकने के पश्चात् विश्वामित्र ने कर्कशस्वर में पूछा— क्या है ?

प्रतिनिधि-मंडल के नेता ने उत्तर दिया— हम आपसे कुछ प्रार्थना करने आए हैं।

विश्वामित्र— कहो क्या कहना है।

१४. प्रणपूर्ति की राह पर

कुछ समय पहले के एक विशाल राज्य के अधिपति राजा हरिश्चन्द्र, रानी तारा और राजकुमार रोहित इस समय दीन से भी दीन है तथा वे विश्वामित्र जो थोडी देर पहले वनवासी थे, भिक्षा ही जिनका आधार था, इस समय ससागर पृथ्वी के स्वामी बन गए है। ससार की यह परिवर्तनावस्था होते हुए भी जो सुख-वैभव पर घमड करते हैं या जो अपने दु ख से कातर होते है, उन्हें अज्ञानी मानने के सिवाय और कुछ नही कहा जा सकता है। यह ससार चक्र के समान परिवर्तनशील है। जो आज बालक हैं वे ही कल बुड्ढे दीख पडेंगे। जो आज सुखी है, वही कल दु खी हो सकता है और जो दु खी है वह सुखी भी हो सकता है। इसलिए ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि न तो सुख मे हर्षित होओ और न दु ख में घबराओ।

राजा हरिश्चन्द्र तारा और रोहित के साथ राजसी वेश को छोडकर राजमहल से बाहर निकले। हरिश्चन्द्र के जिस मस्तक पर स्वर्ण मुकुट शोभित होता था, आज उसी पर केशो का मुकुट है। जिस शरीर पर बहुमूल्य वस्त्राभूषण रहते थे, आज उसी पर केवल एक पुराना वस्त्र है और जिसमे से आधा पहिने और आधे से शरीर का ऊपरी भाग ढाके हुए हैं। रानी और रोहित भी इसी वेश मे हैं। तीनो के शरीर पर आभूषण नही बल्कि उनके चिह्न-मात्र दिखलाई पडते हैं। इतना होने पर भी इनके चेहरे से असाधारण तेज झलक रहा है।

मनुष्य की स्वाभाविक सुन्दरता या कुरूपता, किसी समय और किसी वेश में भी नहीं छिपती। उपाय करने पर भी नहीं छिपती। तपस्वी का शरीर यद्यपि दुर्बल होता है, वस्त्र भी विशेष प्रकार के नही रहते, फिर भी उसके तेज और सुन्दरता की समता अनेक वस्त्रालकारधारी दुरा-

दुःखात्मक विचार प्रजा के हृदय को विदीर्ण कर रहा था। उधर स्त्रियों में भी घर-घर यही चर्चा हो रही थी। वे तारा के स्वभाव आदि का स्मरण कर दुःखित हो रही थीं और सुकुमार रोहित का बार-बार विचार कर रही थीं। प्रतिनिधि-मंडल के साथ-साथ सब प्रजाजन राजा के महल के सम्मुख आकर एकत्रित हो गए और उनके महल से बाहर आने की प्रतीक्षा करने लगे।

नेता— जब उन्हे राज्य का लोभ होगा, तब वे स्वय ही अपना अपराध स्वीकार कर लेंगे। यदि अपराध स्वीकार न करेंगे तो राज्य भी नही पाएगे। उन्हे ऋणमुक्त करके यहा रहने देने की बात से और अपराध स्वीकार करने से तो कोई सम्बन्ध नही है और फिर ऐसा करने मे आपको क्या आपत्ति है ?

विश्वामित्र इसका क्या उत्तर देते। अत उन्हे अन्याय का ही आश्रय लेना पडा और प्रतिनिधि-मडल की बात को सत्य समझते हुए भी उन्हे यही कहना पडा कि तुम लोग भी दुराग्रही हो, अत यहा से निकल जाओ। मैं व्यर्थ की बातो मे समय नही खोना चाहता।

विश्वामित्र की आज्ञा से उसी समय सेवको ने इन सभ्य गृहस्थो को निकाल दिया। जाते समय इन लोगो ने विश्वामित्र के प्रति घृणा प्रकट करते हुए कहा— दुराग्रही हम नही बल्कि आप हैं, जो अपने राज्य-दाता को इस प्रकार कष्ट मे डालने का प्रयत्न कर रहे हैं और झूठा अपराध स्वीकार करने के लिए विवश करते हैं।

प्रतिनिधि-मडल की सफलता की आशा से नगर के शेष लोग राज-सभा के समीप ही खडे थे। प्रतिनिधि-मडल के बाहर निकलते ही सब लोग उसके पास आ गए, परन्तु उत्तर सुनकर सबको निराशा हुई। प्रजा कहने लगी कि आप लोगो का अपमान भी हुआ और सफलता भी न मिली।

नेता ने कहा— कार्य करना अपने अधिकार की बात थी परन्तु फल मिलना अपने अधिकार से परे की बात है। रही अपमान की बात, सो जो विश्वामित्र अपने राज्य-दाता हरिश्चन्द्र को भी अपने राज्य से निकल जाने की आज्ञा दे सकता है, तो फिर वह हमे निकाल दे तो इसमे आश्चर्य की बात ही क्या है ? आपको और हमे इसके लिए किंचित् भी दु ख न मानना चाहिए।

प्रतिनिधि-मडल के असफल होने से प्रजा को बहुत दु ख हुआ। विश्वामित्र और हरिश्चन्द्र के स्वभावो एव न्यायकारिता आदि का

से भी अधिक प्रिय हैं अतः उनके विषय में हमारी इस प्रार्थना को स्वीकार कीजिए। यदि आप हरिश्चन्द्र को यह स्वतंत्रता देने के बदले में हमारा सर्वस्व भी लेना चाहें तो हम इसके लिए भी तैयार हैं। साथ ही आपको हम यह भी विश्वास दिलाते हैं कि वे आपके राज-काम में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेंगे और राजमहल से दूर हम लोगों के घरों में शांतिपूर्वक जीवन व्यतीत करेंगे।

विश्वामित्र— तुम लोग जो कुछ मुझसे कहते हो वही बात हरिश्चन्द्र से क्यों नहीं कहते कि वह अपना अपराध स्वीकार कर ले। मुझे राज्य की आवश्यकता नहीं है। उनके अपराध स्वीकार करते ही मैं राज्य उसीको लौटा दूंगा और फिर वह पहले की तरह ही आनन्द से यहीं रहकर अपना राज्य करे।

नेता— हरिश्चन्द्र ने जब कोई अपराध ही नहीं किया है तो हम उनसे अपराध स्वीकार करने के लिए कैसे कह सकते हैं?

विश्वामित्र— तुम लोग भी हरिश्चन्द्र की ही बुद्धि के मालूम पड़ते हो। हरिश्चन्द्र ने अपराध किया है फिर भी तुम कहते हो कि किया ही नहीं।

नेता— खैर, किया होगा हम इस बात की मीमांसा नहीं करना चाहते। यदि उन्होंने अपराध किया है और उसे स्वीकार नहीं करते हैं तो इसका फल वे भोगेंगे परन्तु उनका भार हमसे लेकर उन्हें यहाँ रहने की आज्ञा देने में आपको क्या आपत्ति है? हम तो आपसे यही प्रार्थना करते हैं कि आपको जब उन्हें कष्ट देना अभीष्ट नहीं है तो बन्धमुक्त करके यहां से चले जाने की अपनी आज्ञा भी लौटा लीजिए।

विश्वामित्र— मैंने जो कहा है उसे तो तुम लोग समझते नहीं और अपनी ही कहे जाते हो। तुम हरिश्चन्द्र से ही क्यों नहीं कहते कि वह अपना अपराध स्वीकार कर ले। बस फैसला हुआ। फिर न तो उसे कहीं जाने की ही जरूरत है और न राज्य छोड़ने की ही।

१४. प्रणपूर्ति की राह पर

कुछ समय पहले के एक विशाल राज्य के अधिपति राजा हरिश्चन्द्र, तारा और राजकुमार रोहित इस समय दीन से भी दीन हैं तथा ़श्वामित्र जो थोडी देर पहले वनवासी थे, भिक्षा ही जिनका आधार इस समय ससागर पृथ्वी के स्वामी बन गए है। ससार की यह परि- ावस्था होते हुए भी जो सुख-वैभव पर घमड करते हैं या जो अपने से कातर होते है, उन्हें अज्ञानी मानने के सिवाय और कुछ नही कहा तकता है। यह ससार चक्र के समान परिवर्तनशील है। जो आज बालक ही कल बुड्ढे दीख पडेंगे। जो आज सुखी है, वही कल दु खी हो सकता ौर जो दु खी है वह सुखी भी हो सकता है। इसलिए ज्ञानी पुरुष कहते के न तो सुख में हर्षित होओ और न दु ख मे घबराओ!

राजा हरिश्चन्द्र तारा और रोहित के साथ राजसी वेश को छोड- राजमहल से बाहर निकाले। हरिश्चन्द्र के जिस मस्तक पर स्वर्ण ुट शोभित होता था, आज उसी पर केशो का मुकुट है। जिस शरीर बहुमूल्य वस्त्राभूषण रहते थे, आज उसी पर केवल एक पुराना वस्त्र और जिसमे से आधा पहिने और आधे से शरीर का ऊपरी भाग ढाके हैं। रानी और रोहित भी इसी वेश मे हैं। तीनो के शरीर पर भूषण नही बल्कि उनके चिह्न-मात्र दिखलाई पडते हैं। इतना होने भी इनके चेहरे से असाधारण तेज झलक रहा है।

मनुष्य की स्वाभाविक सुन्दरता या कुरूपता, किसी समय और किसी वेश मे भी नही छिपती। उपाय करने पर भी नही छिपती। तपस्वी ा शरीर यद्यपि दुर्बल होता है, वस्त्र भी विशेष प्रकार के नही रहते, फिर भी उसके तेज और सुन्दरता की समता अनेक वस्त्रालकारधारी दुरा-

दुःखात्मक विचार प्रजा के हृदय को विदीर्ण कर रहा था। उधर स्त्रियों में भी घर-घर यही चर्चा हो रही थी। वे तारा के स्वभाव आदि का स्मरण कर दुःखित हो रही थीं और सुकुमार रोहित का बार-बार विचार कर रही थीं। प्रतिनिधि-मंडल के साथ-साथ अब प्रजाजन राजा के महल के सम्मुख आकर एकत्रित हो गए और उनके महल से बाहर आने की प्रतीक्षा करने लगे।

१४. प्रणपूर्ति की राह पर

कुछ समय पहले के एक विशाल राज्य के अधिपति राजा हरिश्चन्द्र, रानी तारा और राजकुमार रोहित इस समय दीन से भी दीन हैं तथा वे विश्वामित्र जो थोडी देर पहले वनवासी थे, भिक्षा ही जिनका आधार था, इस समय ससागर पृथ्वी के स्वामी बन गए हैं। ससार की यह परिवर्तनावस्था होते हुए भी जो सुख-वैभव पर घमड करते हैं या जो अपने दु ख से कातर होते है, उन्हे अज्ञानी मानने के सिवाय और कुछ नही कहा जा सकता है। यह ससार चक्र के समान परिवर्तनशील है। जो आज बालक हैं वे ही कल बुड्ढे दीख पडेंगे। जो आज सुखी है, वही कल दु खी हो सकता है और जो दु खी है वह सुखी भी हो सकता है। इसलिए ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि न तो सुख मे हर्षित होओ और न दु ख मे घबराओ।

राजा हरिश्चन्द्र तारा और रोहित के साथ राजसी वेश को छोडकर राजमहल से बाहर निकाले। हरिश्चन्द्र के जिस मस्तक पर स्वर्ण मुकुट शोभित होता था, आज उसी पर केशो का मुकुट है। जिस शरीर पर बहुमूल्य वस्त्राभूषण रहते थे, आज उसी पर केवल एक पुराना वस्त्र है और जिसमे से आधा पहिने और आधे से शरीर का ऊपरी भाग ढाके हुए हैं। रानी और रोहित भी इसी वेश मे हैं। तीनों के शरीर पर आभूषण नही बल्कि उनके चिह्न-मात्र दिखलाई पडते हैं। इतना होने पर भी इनके चेहरे से असाधारण तेज झलक रहा है।

मनुष्य की स्वाभाविक सुन्दरता या कुरूपता, किसी समय और किसी वेश में भी नही छिपती। उपाय करने पर भी नहीं छिपती। तपस्वी का शरीर यद्यपि दुर्बल होता है, वस्त्र भी विशेष प्रकार के नही रहते, फिर भी उसके तेज और सुन्दरता की समता अनेक वस्त्रालकारधारी

नारी का शरीर कदापि नहीं कर सकता। इसी प्रकार इस समय हरिश्चन्द्र तारा और कुमार रोहित दीनवेश में थे लेकिन उनका तेज इस वेश में भी शोभा दे रहा था।

हरिश्चन्द्र तारा और रोहित तीनों राजमहल से निकलकर विश्वामित्र के समीप आए। विश्वामित्र इन लोगों को देखकर विचारने लगे कि क्या यह वही राजा है जो कल तक राजसिंहासन पर बैठता था जिसके सिर पर मुकुट शोभा पाता था जिसके ऊपर चवर ढुला करते थे और छत्र छाया किए रहता था। क्या यह वही रानी है जो बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से अलंकृत रहती थी अनेक दासियां जिसकी सेवा में उपस्थित रहती थीं क्या यह वही महारानी तारा है जो महलों में उसी प्रकार शोभित होती थी जैसे आकाश में चन्द्रमा। क्या यह वही बालक है जिसके लिए संसार के बहुमूल्य पदार्थ भी तुच्छ माने जाते थे जो अवध का भावी-शासक कहलाता था और जिससे प्रजा भविष्य की अनेकानेक आशाएं करती थी। वही राजा वही रानी और वही बालक आज इस वेश में हैं फिर भी चेहरे पर विषाद की रेखा नहीं है। राजा ने तो मुझे सब दान कर दिया है इसलिए उसका ऐसा करना तो कोई विशेषता नहीं रखता है, परन्तु रानी तो उससे भी बढ़कर निकली। इस वेश में भी ललाट पर सुहाग बिन्दी कैसी शोभा दे रही है, जैसे आभूषण में जड़ा हुआ रत्न हो। मैं तो विचारता था कि रानी स्त्री-स्वभावानुसार दुःख से भयभीत हो पति के इस कार्य का विरोध करेगी परन्तु धन्य है इसे जो इस दशा में भी पति का सहयोग करने जा रही है।

राजा रानी और रोहित ने विश्वामित्र के निकट जाकर प्रणाम किया और राजा हरिश्चन्द्र ने विनीत होकर कहा— महाराज अब हमें आशीर्वाद दीजिए। मैं आज अपनी प्राणों के समान प्रिय प्रजा को आपके हाथों में समर्पित कर रहा हूं। आज से प्रजा के पिता प्रभु, पालक तथा रक्षक आदि सब कुछ आप ही हैं। आशा करता हूं कि आप इस पर प्रेमपूर्वक वैसे ही शासन करेंगे जैसे पिता पुत्र पर करता है।

विश्वामित्र ने राजा के कथन को सुन तो लिया परन्तु आत्मग्लानि के मारे सिर ऊपर न उठा सके। पहले तो वे विचार कर रहे थे कि जाते समय मैं राजा को यह कहकर अपमानित करूंगा कि तुम्हारे, तुम्हारी स्त्री या पुत्र के शरीर पर यह वस्तु है, जिसे रखने का तुम्हे अधिकार नही है। लेकिन राजा ने अपने, तारा और वालक के शरीर पर लज्जा की रक्षा के हेतु केवल एक-एक वस्त्र रखा है और वह भी पुराना। इसके सिवाय उनके पास कोई भी ऐसी वस्तु न थी, जिसके लिए विश्वामित्र को कुछ कहने का अवसर मिले। यहा तक कि पैरो मे जूते भी नही थे।

विश्वामित्र को सिर नीचा किए देख और उनके ऐसे करने के कारण को समझकर विना किसी उत्तर की प्रतीक्षा किए ही महाराज हरिश्चन्द्र रानी तथा रोहित को लेकर चल दिए। वाहर आते ही प्रजा उनके साथ हो चली। आगे-आगे राजा और उनके पीछे गोद मे रोहित को लिए हुए रानी अपने पूर्वजो की राजधानी अयोध्या से वाहर निकले। साथ के स्त्री-पुरुष इनके वियोग के दु ख से विलाप कर रहे थे। परन्तु राजा रानी के मुख पर विषाद की एक रेखा भी न थी। हरिश्चन्द्र और तारा ने सव स्त्री-पुरुषो को लौट आने के लिए कहा, परन्तु ऐसे समय में उनके कथन को कौन सुनता था। सव लोग साथ-ही-साथ नगर से वाहर आए। राजा इन लोगो को लौटते न देख चिन्तित हुए कि यदि ये लोग मेरे साथ आए तो वडा अनर्थ होगा। विश्वामित्र इसके लिए मुझे ही अपराधी ठहराकर कहेंगे कि मेरे राज्य को निर्जन वनाने का उपाय कर रहा है। अनेक प्रकार से समझाने पर भी जव वे लोग न लौटे तो राजा और रानी नगर के वाहर आकर एक स्थान पर ठहर गए। नगर के सव पुरुष हरिश्चन्द्र को और स्त्रिया तारा को घेरकर खडी हो गई। पुरुष तो राजा से कह रहे थे कि आप यही रहिए, यहा से न जाइए। विश्वामित्र के राज्य से हम लोगो को कष्ट होगा। आपका ऋण हम दिए देते हैं। आप राज-कार्य न करके यदि शान्ति से वैठे भी रहेंगे, तव भी अन्याय न हो सकेगा। यदि आप जाते ही हैं तो हम लोग भी आपके साथ चलेंगे। हमारे लिए

अयोध्या वही है जहां आप हैं। आपके बिना अयोध्या भी हमें नरक के समान दुःखदायी होगी।

हरिश्चन्द्र के पास तो पुरुषवृन्द इस प्रकार विनय कर रहा था और उधर राजपुरोहित प्रधान तथा नगर के अन्य-अन्य प्रतिष्ठित पुरुषों की स्त्रियां तारा से कह रही थीं कि आपने तो राज्य नहीं दिया है तो फिर आप क्यों साथ जा रही हैं? राजा ने राज्य दिया है और उन्हें विश्वामित्र नहीं रहने देते तो उनका जाना ठीक भी है परन्तु आप क्यों जाएं? आपके जाने की तैयारी देखकर हमें बहुत दुःख हो रहा है, अतः हमारी प्रार्थना है कि आप यहीं रहें। यदि विश्वामित्र आपको राजमहल में नहीं रहने देंगे तो आप हमारे यहां रहें परन्तु आपका जाना किसी भी प्रकार से उचित नहीं है। यदि आप न मानेंगी तो हम भी आपके साथ-साथ चल देंगी।

साथ में आने वाला प्रत्येक पुरुष और स्त्री इसी प्रकार राजा और रानी से कह रहा था। सबको पृथक-पृथक् कब तक समझाया जाएगा इस विचार से दोनों ने भाषण द्वारा ही प्रजा को समझाना उचित समझा। राजा और रानी अलग-अलग एक-एक टीले पर खड़े हो गए और जिस टीले पर राजा खड़े थे वहां पुरुष और जिस पर रानी खड़ी थी वहां स्त्रियां खड़ी होकर टकटकी लगाए उनके मुंह की ओर देखने लगीं।

१५. विदाई-संदेश

लोगो पर उपदेश का प्रभाव या तो भय मे पडता है या प्रेम से । भय द्वारा जो उपदेश मनवाया जाता है वह तभी तक अपना प्रभाव रख सकता है, जबतक कि भय है । लेकिन जिस उपदेश का प्रभाव प्रेम मे होता है वह नष्ट नही होता, वरन् उत्तरोत्तर वृद्धि करता जाता है । उदाहरणार्थ एक राजा उपदेश दे जो किसी विशिष्ट शक्ति से सम्पन्न है और एक त्यागी दे, जिसमे राजा के समान कोई शक्ति नही है, तो इन दोनो मे से राजा का उपदेश तभी तक माना जाएगा जब तक उसमें शक्ति है । लेकिन त्यागी यदि स्वय भी न रहे तब भी उसका उपदेश नष्ट न होगा । साराश यह कि प्रेमपूर्वक दिया हुआ उपदेश उत्कृष्ट है लेकिन उसके लिए यह आवश्यक है कि उपदेशक स्वय वैसा आचरण करके आदर्श स्थापित करे, त्याग दिखाए । जबतक वह स्वय त्याग नही दिखलाता, केवल दूसरो को ही उपदेश देता है, तबतक उसके उपदेश का भी कोई प्रभाव नहीं होता ।

वक्ता पर जब श्रोताओं की अपूर्व श्रद्धा होती है, तभी वे ध्यानपूर्वक उपदेश सुनते हैं । जहा वक्ता के प्रति लोगो के हृदय मे श्रद्धा का अभाव है वहा वक्ता का कर्तव्य और श्रोता का श्रवण, दोनो ही निरर्थक जाते हैं । महाराज हरिश्चन्द्र पर जनता की अपार श्रद्धा थी, अत उनके वक्ता बनकर खडे होने पर श्रद्धा से ओतप्रोत जनता ध्यानपूर्वक अपने हितैषी महाराज का उपदेश सुनने लगी ।

पुरुषो से घिरे हुए टीले पर खड़े होकर महाराज हरिश्चन्द्र उनसे कहने लगे—

मेरे प्यारे भाइयो ! आप लोग मेरे साथ यहाँ तक आए और मेरे वियोग से दुःखित हो रहे हैं तथा मेरे साथ सहानुभूति प्रकट कर रहे हैं यह आप लोगों का अनुग्रह है लेकिन आप इस बात पर विचार कीजिए कि मुझसे आप लोगों को इतना प्रेम होने का कारण क्या है ? भाइयो ! यह प्रेम मुझसे नहीं किन्तु सत्य से है। जिस हरिश्चन्द्र के लिए आप इतने दुःखित हो रहे हैं आंसू बहा रहे हैं, यहां तक कि अपना घरबार छोड़कर जिसके साथ जाने को तैयार हैं यदि वही हरिश्चन्द्र असत्याचारी होता अपने स्वार्थ के लिए आप लोगों को दुःख में डालता आपके अधिकारादि की अवहेलना करता दुराचरण में पड़कर यही राज्य किसी वेश्या को दे देता तो आप लोग मेरे जाने से प्रसन्न ही न होते किन्तु स्वयं भी मेरे निकालने का उपाय करते। लेकिन मैंने सत्याचरण किया है अपने कर्तव्य का पालन करते हुए इस राज्य को दान में दिया है इसीसे आप लोगों की मेरे प्रति श्रद्धा है। ऐसी अवस्था में आप लोगों का मुझसे यहीं रहने का आग्रह करना उचित ही है। लेकिन मेरे यहीं रहने से जो प्रतिज्ञा मैंने की है वह भंग होगी और प्रतिज्ञाभंग करना असत्याचरण है। मैं अब तक आपका राजा रहा हूं अतः मेरा इस प्रकार सत्यपालन में कायरता दिखाना आप लोगों के लिए भी शोभा की बात नहीं है।

अब आप लोग साथ चलने को कहते हैं परन्तु आप लोग ही विचारिए कि मेरे साथ चलने से और नगर को जनशून्य बना देने से सत्य कलंकित होगा या उसकी प्रतिष्ठा बढ़ेगी ? विश्वामित्र ने मुझे केवल स्त्री-पुत्र को साथ ले जाने की आज्ञा दी है आप लोगों को ले जाने की नहीं। इसलिए आप लोगों के साथ चलने का अर्थ यही हुआ कि या तो मैंने विश्वामित्र को राज्य नहीं दिया था उनसे जो प्रतिज्ञा की वह भंग की है। मैं आप लोगों से प्रार्थना करता हूं कि आप लोग प्रसन्नतापूर्वक यहीं रहें और मेरी चिन्ता न करें। प्रेम साथ-साथ चलने के बाह्य-आचरण से नहीं बल्कि सत्यपालन के आन्तरिक-आचरण से किया जाना उचित है। यदि आप लोगों का मुझ पर प्रेम है तो मैं आपसे यही कहता हूं कि

जिस सत्य के लिए मैंने अपने पूर्वजों के राज्य को दान कर दिया और अपनी राजधानी तथा आप लोगों को छोड़कर जा रहा हूँ, उसी सत्य के पालन में तत्पर रहें। उसके पालन में होनेवाले कष्टों से भयभीत न होवें।

बन्धुओ ! आज तक मैं राजा रहा और आप लोगों पर शासन करता रहा, परन्तु आज से विश्वामित्र राजा हुए हैं। अब वे शासन करेंगे। मैं आशा करता हूँ कि आप लोग उन्हें भी वैसा ही सहयोग प्रदान करते रहेंगे, जैसा कि मुझे करते रहे हैं।

अब आप लोग जो यह कहते हैं कि हमें विश्वामित्र के शासन में दुःख होगा, तो मित्रो यह केवल आपके हृदय की दुर्बलता है। आज मैं राज्य को दान में देकर जा रहा हूँ इसलिए आप लोग मुझे ऐसा कह रहे हैं, किन्तु यदि मेरी मृत्यु हो जाती तो दूसरा शासक आप पर शासन करता या नहीं ? वह शासक भी यदि आप लोगों पर अत्याचार करता तो आप किससे कहते ? भाइयो ! दुःख केवल दुर्बल आत्मा को हुआ करता है, सबल आत्मा वाले मनुष्यों के तो दुःख कभी समीप ही नहीं फटकता। आप लोग सत्य का सहारा करके बलवान बनिए, फिर किसी की क्या शक्ति है जो आपको दुःख दे सके। राजा तथा प्रजा का तो ऐसा सम्बन्ध है कि प्रजा पर अत्याचार करनेवाला राजा एक क्षण भी राज्यासन पर नहीं ठहर सकता। पहले तो विश्वामित्र स्वयं ही बुद्धिमान हैं, इस समय वे क्रुद्ध होकर चाहे जो कुछ कहें, परन्तु वे नीतिज्ञ हैं, इसलिए प्रजा पर कदापि अत्याचार न करेंगे। मान लो कि उन्होंने कभी अत्याचार किया भी तो आप सत्याग्रह कर विश्वामित्र के अत्याचार का प्रतिकार कर सकते हैं। अत्याचार के भय से भागना वीरों का नहीं, कायरों का काम है। वीर लोग तो सदा अत्याचार का प्रतिकार ही करते हैं। आप सूर्यवंशी राजाओं की प्रजा हैं, अतः इस प्रकार कायर बनकर उन्हें कलंकित करना आप लोगों को किसी प्रकार भी शोभा नहीं देगा।

प्रियवरो ! अपना राज्य, अपना देश, अपनी प्रजा और अपनी राजधानी मैं और किसी समय इतने आनन्द से नहीं छोड़ सकता था,

जितने आनन्द से आज छोड़ रहा हूं। अन्य किसी समय यदि कोई मुझसे छुड़ाना भी चाहता तो मैं उस छुड़ाने वाले का प्रतिकार करता उससे युद्ध करता और उस युद्ध में मैं स्वयं ही आप लोगों से सहायता लेता। परन्तु मैं सत्यपालन के लिए उन सब चीजों को— जिन्हें कि मैं अन्त समय तक किसी दूसरे को न लेने देता— आज प्रसन्नतापूर्वक छोड़ रहा हूं। कर्तव्य और सत्य के आगे राज्य वैभव सुख तृण के समान हैं और वन-वन के महान् कष्ट राज-सुख की अपेक्षा अत्यधिक सुख-दाता हैं। जिस सत्य और कर्तव्य के लिए मैं इन सबको छोड़ रहा हूं उस सत्य और कर्तव्य का आप लोग भी पालन करें। उस समय आप भी जानेंगे कि सत्य और कर्तव्य के आगे राज-वैभव कितना तुच्छ है।

अब मैं आप लोगों से यही कहता हूं कि आप लोग सत्यपालन में मेरी सहायता कीजिए। आप लोगों का घर लौट जाना ही उचित है। मुझे आज ही अवध की सीमा को छोड़ना है और सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा है। यदि समय पर सीमा पार न कर सका तो प्रतिज्ञा भ्रष्ट होऊंगा जो मेरे साथ ही आपके लिए भी कलंक की बात है। मैं आशा करता हूं कि आप लोग मेरे साथ एक कदम भी न चलकर अपने-अपने घर लौट जाएंगे। आपके भूतपूर्व राजा की आपसे यही अन्तिम प्रार्थना है कि आप साथ चलकर मेरे सत्य को कलंकित न करें। मेरा आपको यही आशीर्वाद है और आप भी मुझे यही आशीर्वाद दीजिए कि हम लोग सत्य-पालन में दृढ़ रहें।

हरिश्चन्द्र के इस भाषण को लोग चुपचाप सुनते हुए आंखों से आंसू बहाते रहे। पशु-पक्षी और वृक्ष भी हरिश्चन्द्र के इस यथार्थ परन्तु करुणा पूर्ण भाषण को सुनकर जड़वत् खड़े हो गए तो सहृदय मनुष्यों में यह शक्ति कब हो सकती थी कि वे हरिश्चन्द्र के कथन का कुछ प्रतिवाद करते।

दूसरी ओर तारा की सखियां और अन्यान्य स्त्रियां अपने नेत्रों के जल से तारा के चरण धोती हुई प्रार्थना कर रही थीं कि आप न तो राज्य

देने मे ही साथ थी, न दक्षिणा का मौखिक-ऋण लादने मे ही, फिर आप क्यो जाती है ? उनके इस प्रकार प्रार्थना करने पर तारा बोली—

मेरी प्यारी माताओ, बहनो तथा पुत्रियो ! यद्यपि मैं आज आप लोगो से एक अनिश्चित समय के लिए बिछुड रही हू, परन्तु यह सौभाग्य की बात है कि मैं पति की सेवा के लिए जा रही हू । मेरे साथ ही आप लोगो के लिए भी यह प्रसन्नता की बात होनी चाहिए कि आपकी ही जाति मे से तारा नाम की एक क्षुद्र स्त्री पति की सेवा के लिए अपने सब सुखो को छोड रहा है । यद्यपि आप लोग पातिव्रत के नियमो की जानकार हैं, तथापि इस समय वियोग के दु ख मे पडकर उन्हे भूल रही हैं । लेकिन आप विचारिए तो सही कि जब मैं उनकी अर्द्धांगिनी हू तो जो दान उन्होंने दिया, क्या वही दान मैंने नही दिया है ? जो ऋण उन पर है, क्या वही मुझ पर नही हैं ? फिर वे तो कष्ट सहे और मैं कष्ट से बचने के लिए यहा रह जाऊ, यह कैसे उचित है ! सुख के समय पति के साथ रहकर दु ख के समय साथ छोड देना क्या पतिव्रता के लिए उचित है ? बहिनो ! आप लोग तो अपने धर्म पर स्थिर रहें अर्थात् पति की सेवा करें और मुझे पति की सेवा-त्याग का उपदेश दें, यह आप लोगो को शोभा नहीं देता है । आप मेरे लिए जो प्रेम दर्शा रही हैं, वह सब पतिसेवा का ही प्रताप है। यदि मैं पतिसेवा से विमुख होकर आपके पास आती और कहती कि मुझे स्थान दें, तो सम्भवत ही नही बल्कि निश्चय ही मेरा तिरस्कार करके मुझे पतित-से-पतित समझती और घृणा की दृष्टि से देखती । लेकिन पतिसेवा के लिए मैं सब सुखो को छोडकर उनके साथ जा रही हू, इसी मे आप लोग मुझसे यहा रहने के लिए आग्रह कर रही हैं । जिस पति-सेवा का यह प्रताप है, उसे मैं कदापि नही छोड सकती और आपसे भी यही प्रार्थना करती हू कि आप लोग यह अनुचित आग्रह न करें । स्त्री का धर्म केवल पतिसेवा है । वस्त्राभूषण आदि पतिसेवा के सन्मुख तुच्छ है।

बहनो ! इस समय महाराज का साथ छोड देने से मैं तो कल-किनी होऊगी ही, परन्तु साथ ही समस्त स्त्री-जाति भी कलकित होगी ।

मेरे साथ ही सब लोग स्त्री-जाति मात्र को धिक्कारेंगे और कहेंगे कि स्त्रियां स्वार्थी और कपटी होती हैं। वे तभी तक पति का साथ देती हैं जब तक पति सुखी है धन-वैभव-सम्पन्न है। धन के न रहने पर और पति के ऊपर किसी प्रकार का कष्ट आते ही वे पति को छोड़ देती हैं। मैं केवल दुखों के भय से अपने साथ ही समस्त स्त्रीजाति को यह कलंक नहीं लगने दे सकती। मैं पति के साथ वन-वन भटककर कष्टों को सहती हुई पति की सेवा करके संसार को यह दिखा देना चाहती हूं कि कैसी भी विषम-अवस्था हो स्त्रियां पति की सेवा नहीं छोड़ती हैं। जो पुरुष स्त्रियों को धूर्त आदि समझकर अपमानित करते हैं उन्हें भी मेरे चरित्र से मालूम होगा कि स्त्रियां क्या हैं और उनका अपमान करके हम कितना अन्याय करते हैं।

बहनो! आपका मुझ पर जो प्रेम है, वह अवर्णनीय है। इस प्रेम का कारण मेरी पतिसेवा ही है। इसलिए मेरा आपसे यही कहना है कि आप लोग पति की सेवा में सदा रत रहें, पति से अधिक प्रेम रखें और अन्यान्य धार्मिक कार्यों की अपेक्षा पतिसेवा को अधिक महत्त्व दें। स्त्री के लिए पतिसेवा से बढ़कर दूसरा कोई नैतिक-धर्म नहीं है।

बहनो! अब आप लोग मेरे साथ चलने के विचारों को त्यागकर मेरे प्रति अपने प्रेम का परिचय पति की सेवा द्वारा दीजिए। जिन बहनों के पति नहीं हैं वे परमात्मा का ध्यान करें और अपना सारा समय उसी के भजन में व्यतीत करें।

बहनो! दिन ढलता जा रहा है इसलिए आप लोग मुझे आशीर्वाद देकर विदा कीजिए। मैं आपसे केवल यही आशीर्वाद मांगती हूं कि किसी भी समय और किसी भी अवस्था में मैं पतिसेवा से विमुख न होऊं। लेकिन आप लोग इस बात को ध्यान में रखें कि आशीर्वाद उन्हीं लोगों का फलदायक होता है जो स्वयं भी उसके अनुसार कार्य करते हों।

तारा के इस भाषण ने सब स्त्रियों को आश्चर्य-चकित कर दिया। वे किंकर्तव्यविमूढ़-सी रह गईं और अपने आपको धिक्कारने लगीं। कुछ-

स्त्रिया तारा को आभूपण भेंट देने लगी परन्तु तारा ने उन्हे यह कहकर लेने से इनकार कर दिया कि मेरे आभूषण मेरे पति हैं और वे मेरे साथ ही हैं। यदि उनकी अपेक्षा इन आभूषणो को मैं बडा समझती तो मैं अपने पास के आभूषणों को ही क्यो छोड जाती ?

अवध-निवासी स्त्री-पुरुषो में से बहुतो की इच्छा राजा-रानी के साथ चलने की थी परन्तु दोनो के भाषणो को सुनकर उनके विचार बदल गए। उनके साथ जाने की अपेक्षा अयोध्या मे रहकर सत्य और कर्तव्य के पालन को ही उन्होने अच्छा समझा। सबने प्रसन्नचित्त होकर महाराज हरिश्चन्द्र और महारानी तारा की जय का घोष करते हुए उन्हे विदा किया।

महाराज हरिश्चन्द्र, रोहित और रानी तारा इस कोलाहलमय जनसमूह से बाहर निकलकर वन की ओर चले। उन्हें इस प्रकार जाते देख सब लोग विलाप करने लगे। इन लोगो के विलाप को सुनकर पशु-पक्षी भी विकल होने लगे और राजा-रानी की भी आंखें भर आई।

जिनकी सवारी के लिए अनेक वाहन उपस्थित रहते थे, महल से वाहर निकलने पर हजारो सेवक साथ होते थे, जिनके आगे-आगे वन्दीजन यश-गान करते चलते थे, जिनको प्रणाम करने के लिए प्रजा मार्ग पर पक्तिबद्ध खडी होती थी, आज वे ही राजा-रानी पैदल, नंगे पाव और अकेले जा रहे थे। वे रानी जो आभूषणो के भार से ही थकी-सी प्रतीत होने लगती थी, आज बालक रोहित को गोद में लिए पति के पीछे-पीछे चल रही थी। जिनके पैर रखने के लिए पुष्प बिछाए जाते थे, वे ही आज कंटीले और पथरीले मार्ग पर चल रही थी। इतना सब कुछ होते हुए भी दम्पति के मुह पर चिन्ता की रेखा तक नही थी।

जब तक राजा और रानी दिखते रहे तब तक प्रजा बराबर टकटकी बाधकर उन्हे देखती और विलाप करती रही और जब वे ओझल हो गये तब सब लोग मन मारकर घर की ओर लौटे, जैसे कोई अमूल्य पदार्थ खोकर लौटे हो।

१६ अवध को अंतिम प्रणाम

संसार का नियम है कि दुःखी आदमी अपने दुःख से उतना नहीं घबराता जितना एक सुखी मनुष्य दुःख पड़ने पर घबराता है। जो नीचे ही है, यदि वह गिरे तो उसे उतनी चोट नहीं पहुंचती जितनी ऊपर से गिरने वाले को पहुंचती है। इसी के अनुसार हरिश्चन्द्र और तारा जिन्हें आज की अवस्था की कभी कल्पना न थी जो यह भी नहीं जानते थे कि नंगे पांव चलना कैसा होता है, उनको आज इस कण्टकाकीर्ण पथ पर चलने से अधिक कष्ट होना चाहिए था परन्तु उनको नाममात्र का भी दुःख नहीं था वरन् प्रसन्नचित्त थे।

पुत्र सहित राजा-रानी अवध को अन्तिम प्रणाम कर काशी जाने के लिए वन की ओर चल दिए। मार्ग में रोहित को कभी राजा के सिरे पे तो कभी वह स्वयं ही पैदल चलने लगता था। राजा और रानी के कोमल पैरों में कांटे और कंकर चुभते जाते थे जिससे खून निकल-निकलकर पैरों में इस प्रकार सन रहा था जैसे पांवों में महावर लगाया हो।

प्रजा को समझाने-बुझाने में राजा और रानी का बहुत समय लग गया था और उनके थोड़ी दूर जाते ही शाम पड़ गई।

अंधियारी काली रात में भयानक जंगल सांय-सांय कर रहा था। जो राजा-रानी सदा मधुर-मधुर बाजों और गानों को सुना करते थे वे ही आज वन के पशुओं के स्वर सुन रहे थे। जो बालक रात के समय हिंडोले में झूला करता था वही कभी माता और कभी पिता की गोद में चिपटा जा रहा था और उन पशुओं के स्वर तथा सन्नाटे में वृक्षों की खुरखुराहट सुन रहा था। जब कभी अंधेरे में किसी का पांव ऊंचा-नीचा पड़ता तो पति पत्नी का और पत्नी पति का हाथ पकड़कर एक-दूसरे की

इन पत्तो से अपने पिता के मुह पर हवा तो करो। रोहित अपने छोटे-छोटे हाथो से हवा करने लगा और रानी राजा के लिए जल की चिन्ता करने लगी।

आवश्यकता आविष्कार की जननी है। घर वनाना, भोजन वनाना, कपडे वनाना आदि प्रत्येक आविष्कार आवश्यकता के कारण ही हुए हैं। आवश्यकता का अनुभव किए विना किसी आविष्कार की आवश्यकता प्रतीत नही होती है। रानी यद्यपि राजमहल की रहनेवाली थी, वन कैसा होता है, उसके वृक्ष कैसे होते हैं तथा उन पर किस प्रकार चढा जाता है और दोने किस प्रकार वनाए जाते हैं, आदि वातें वे नही जानती थी, लेकिन जल की आवश्यकता ने उन्हे वृक्ष पर चढना और दोना वनाना भी सिखा दिया। रानी को जव इधर-उधर जल दिखाई न पडा, तव वे एक वृक्ष पर चढकर जलाशय देखने लगी। थोडी दूरी पर उन्हे एक सरोवर दिखलाई पडा। वे वृक्ष से उतरकर दौडती हुई उस सरोवर पर पहुची और कमल के पत्तो का दोना वना जल भरकर पति के पास लाई।

रानी को पैदल चलने का यह पहला ही अवसर था, दो-दो दिन की भूखी थी और पैरो मे काटे-ककर चुभने से असह्य पीडा अनुभव कर रही थी, परन्तु इन सब वातो की कुछ भी परवाह न कर वे पति के लिए दौडकर जल ले आई। यदि आज की स्त्रियो की तरह तारा भी होती तो सम्भवत पहले तो इन सब दु खो को सहन करने के लिए तैयार ही न होती और कदाचित तैयार भी हो जाती तो वन के मध्य पति की इस दशा को देखकर किंकर्तव्यविमूढ हो जाती। परन्तु तारा ने ऐसी अवस्था में भी धैर्य और दृढता न छोडी।

रानी ने जल लाकर पति के मुह पर छिटका। शीतल जल के छीटो से राजा की मूर्छा दूर हुई और आखें खुली एव रानी के अनुरोध पर थोडा-सा जल पिया।

ने जल पिया और शान्ति मिलने पर रानी से पूछा—प्रिये ! न वन मे यह जल तुम कहा से लाई ? इसने तो मेरे लिए

थोड़े-से जंगली फल तोड़कर रोहित को दिए परन्तु उसे वे कब अच्छे लग सकते थे जो वह खाता। उसने फलों को चखकर फेंक दिया और माँ से फिर खाने को मांगने लगा।

समय की गति बलवान है। जो राजा और रानी नित्य दूसरों को भोजन बांटा करते थे जिनके आश्रय से हजारों मनुष्य नित्य भोजन पाते थे वे ही आज स्वयं दो दिनों से भूखे हैं। जिस रोहित के लिए अनेकानेक भोज्य-पदार्थ सदा विद्यमान रहते थे जो उन्हें आग्रह करने पर भी नहीं खाता था और जो अमृत के समान स्वादिष्ट फलों को अपने साथ खेलने वाले बालकों को बांट दिया करता था वही आज भूख से विकल हो रहा था और उसे वे जंगली फल खाने को मिल रहे थे जिनको उसने कभी देखा भी न था चखने की बात तो दूर रही।

सन्तान के भूखातुर होने और भोजन सामने पर न दे सकने के कारण माता-पिता के होने वाले दुःख को हम आप सभी जानते हैं। हरिश्चन्द्र और तारा को भी रोहित के भूख भूख चिल्लाने से बड़ा दुःख हो रहा था परन्तु इसका उपाय क्या ? तारा आश्वासनों से रोहित का मन बहलाती जा रही थीं परन्तु वे आश्वासन कब तक काम कर सकते थे !

हरिश्चन्द्र पुत्र की दशा से विकल हो गए। वे मन-ही-मन कह रहे थे कि मैं कैसा अभागा पिता हूं जो अपने भूखे बालक को एक टुकड़ा भी नहीं दे सकता और दुःखी हो रहे थे कि इन लोगों को इस प्रकार कष्ट में डालने का कारण मैं ही हूं।

राजा एक तो दो रोज से भूखे थे दूसरे चलने से भी अत्यधिक थक गए थे तीसरे गर्मी के मारे प्यास से कण्ठ सूखा जा रहा था और ऊपर से बालक की क्षुधा का दुःख उन्हें और भी अधीर कर रहा था। वे चलते चलते एक वृक्ष के नीचे मूर्छित होकर गिर पड़े। तारा पति की यह दशा देखकर घबरा उठी। रोहित ऐसी हालत में अपनी भूख भूल गया और तारा से पूछने लगा कि पिताजी क्यों गिर गए ? तारा ने रोहित को राजा के पास बैठा दिया और उसके हाथ में पत्ते देकर कहा— बेटा जरा तुम

और मुझे ऐसे-ऐसे काम करना सिखा रहा है कि जिन्हे करना मैं जानती ही न थी ।

रानी की बात सुनकर राजा बहुत ही प्रसन्न हुए और धन्यवाद देते हुए कहने लगे कि मैं समझता था कि तुम राज्य छूट जाने और इस प्रकार भूखे रहकर जगल मे चलने आदि के दु खो से दु खित हो जाओगी, परन्तु तुम तो इस समय भी अपने आपको सुखी बता रही हो ।

तारा— प्रभो ! मैं दु खित तो तब होऊ जब आपका राज्य छूटा हो । आपका राज्य छूटा ही नही है, बल्कि कृत्रिम राज्य के बदले अलौकिक और वास्तविक राज्य प्राप्त हुआ है ।

हरिश्चन्द्र— तारा ! यह तो तुम एक अत्युक्तिपूर्ण बात कह रही हो।

तारा— नही नाथ, मैं आपको बताती हू कि आपका वह राज्य कैसे कृत्रिम था और इस समय का राज्य कैसे अकृत्रिम है ? पहले आप उस सिहासन पर बैठते थे जिसके छिन जाने आदि बातो का सदा भय बना रहता था, लेकिन आज आप कुश के उस सिहासन पर बैठे है जिसके विषय मे किसी प्रकार का भय नही है। यदि आप यह कहे कि राजा लोग कुशासन पर नही बैठते, सिहासन पर ही बैठते हैं तो वे राजा कुशासन की उत्कृष्टता को नही जानते । किन्तु आपने उस सोने के सिहासन की अपेक्षा इस कुशासन को बडा समझा है, इसीसे तो उसे त्यागकर इसे अपनाया है ।

हरिश्चन्द्र— यह तो तुमने ठीक कहा ।

तारा— स्वामी ! पहले आप पर जो चवर ढुला करता था, वह तभी तक पवन करता था जब तक कि कोई उसे हिलाता रहता था । लेकिन यह प्राकृतिक पवन ऐसा चवर है कि सदैव हिला करता है और इसी के दिये हुए पवन से आप तथा सारा ससार जी रहा है । वह चवर तो केवल आप ही को पवन देता था परन्तु यह चवर तो सबको पवन देता है और इस प्रकार उस कृत्रिम चवर की अपेक्षा यह अकृत्रिम चवर विशेष आनन्द का दाता है ।

अमृत का काम किया है।

तारा— प्रभो ! मैं इस समीप ही के एक सरोवर से आई हूं।

हरिश्चन्द्र— प्रिये ! मैं तुम्हें साथ नहीं ला रहा था परन्तु अब अनुभव करता हूं कि यदि तुम साथ न होतीं तो मेरी दुःख की नाव पार नहीं हो सकती थी। तुम मेरे लिए अद्वितीय सुखदायी सिद्ध हुई हो।

राजा की बात सुनकर तारा इस आपत्ति के समय में भी हंस पड़ी— स्वामिन् ! मेरे पास सुख है तभी तो मैं सुखदायी हूं।

हरिश्चन्द्र— हां यदि तुम्हारे पास सुख न होता तो तुम सुखदायी कैसे हो सकती थी ?

तारा— प्रभो ! आप दुःख से घबरा जाते हैं अतः आपके पास जो दुःख है वह मुझे दे दीजिए और मेरे पास जो सुख है वह आप ले लीजिए।

हरिश्चन्द्र— यह कैसे हो सकता है ? सुख-दुःख कोई ऐसे पदार्थ तो हैं नहीं जो बदल लिये जाएं। मुझे तो आश्चर्य होता है कि तुम इस दशा में भी अपने को सुखी मान रही हो। सुख को दुःख से बदलने का उपाय क्या है, उसकी कुंजी क्या है यह बताओ और यह भी बताओ कि तुम ऐसे कष्ट सहती हुई भी अपने आपको सुखी कैसे मान रही हो तथा दुःख से घबराहट क्यों नहीं होती है ?

तारा— नाथ ! जिस समय आपने राज्य दान करने का समाचार सुनाया उस समय दुःख मुझे पीसने आया था। परन्तु मैंने जान लिया कि यह मेरा शत्रु है। शत्रु के समय मैंने पर सब उससे सावधान रहने और उसे जीतने का उपाय करते ही हैं। इसी के अनुसार मैंने दुःखरूपी शत्रु को— जिसे कि मैं उस समय तक जानती ही न थी— जीतकर कैद कर लिया। यदि मैं उससे भय खा जाती या परास्त हो जाती तो वह मुझे पीस ही देता परन्तु मैं उससे भयभीत नहीं हुई। अब जब से मैंने उसे कैद कर लिया है तो वह शत्रुता की जगह मेरा उपकार कर रहा है

सकता था ? वन के खट्टे-तूरे फलो से उसकी तृप्ति नही हुई थी, इसलिए माता-पिता से वह पुन खाने को मागने लगा।

जिस देव ने राजा को सत्य से डिगाने का प्रण किया था, वह तो विश्वामित्र के राज्य ले लेने और हरिश्चन्द्र को राज्य से निकाल देने पर यह विचारकर प्रसन्न हुआ था कि अब हरिश्चन्द्र सत्य का पालन न कर सकेगा परन्तु राजा को सत्यपालन के लिए इस प्रकार कष्ट सहते देख आश्चर्यचकित हो गया। इस समय उसने विचारा कि इन्हे राज्य छूटने आदि का कैसा दु ख है ? इसकी परीक्षा मैं स्वय लू । इस विचार से वह एक वृद्धा का रूप धारण करके सिर पर लड्डुओ का पिटारा रख हरिश्चन्द्र और तारा के साथ-साथ चलने लगा। वह एक लड्डू हाथ मे ले रोहित को दिखा-दिखाकर ललचाने लगा और विचारने लगा कि देखें अपने पुत्र की भूख से दु खित राजा-रानी लड्डू मागते हैं या नही। रोहित वृद्धा को लड्डू वताते देख अपनी माता की ओर देखने लगा। तारा ने रोहित से कहा — बेटा, ऐसे लड्डू तो तुम नित्य ही खाते थे और अब आगे चलकर और भी खाओगे।

माता-पिता के स्वभाव के सस्कारों का प्रभाव बालको पर भी हुआ करता हैं। जिनके माता-पिता स्वय मागना नही जानते, उनके बालक भी प्राय ऐसे ही हुआ करते हैं। ऐसे बालको को यदि कोई स्वय भी कुछ देने लगता है तो वे नही लेते, मागना तो दूर रहा। रोहित बालक था और आज दो दिन से भूखा भी था परन्तु उसने उस वृद्धा से लड्डू नही मागा और न मा से ही कहा कि तुम मुझे माग दो।

वृद्धा अपने लड्डू वाले हाथ को रोहित के समीप इस तरह ले जाती थी मानो उसे लड्डू दे रही हो परन्तु जिस तरह कोई घृणित वस्तु की ओर नही देखता, उसी तरह रोहित ने भी माता की बात सुनने के पश्चात् उसकी ओर नही देखा और न हरिश्चन्द्र या तारा ने ही उससे कहा कि तू एक लड्डू दे दे। तारा मन-ही-मन यह अवश्य कहती थी कि

प्रभो उस राज्य में आपके सिर पर जो छत्र रहता था वह तो आडम्बर था। इसके सिवाय वह छत्र केवल आप ही पर छाया रखता था परन्तु यह वृक्षरूपी छत्र आडम्बर रहित और सब पर छाया रखने वाला है। उस छत्र की छाया के बिना सबको दुःख नहीं हो सकता परन्तु इसकी छाया के बिना मनुष्य पशु, पक्षी आदि सभी दुःखी हो सकते हैं।

आपके उस राज्य में सेठ लोग आपसे भय खाते थे वह राज्य क्रोध अहंकार आदि पैदा करनेवाला था परन्तु इस राज्य में क्रोध अहंकार, वैर आदि का नाम भी नहीं है। यह राज्य प्रेम का है। देखिए तो ये हरिण आपकी ओर कैसी आँखें फाड़कर प्रेम से देख रहे हैं। आप जब उस राज्य के स्वामी थे तब क्या हरिण इस प्रकार निर्भय होकर आपके राजसिंहासन के समीप आते थे?

नाथ उस राज्य में गायकगण आपको कृत्रिम गान सुनाते थे चाटुकार लोग आपकी अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा करते थे परन्तु इस राज्य में पक्षी गण आपको अकृत्रिम-राग सुनाते हैं। अब आप ही बतलाइए कि इस राज्य की समानता वह राज्य कैसे कर सकता है। उस राज्य में यदि कुछ लोग आपके हितचिन्तकों में आपसे प्रेम करते थे तो कुछ लोग आपके अहितचिन्तक और आपसे ईर्ष्या करने वाले भी रहे होंगे परन्तु इस राज्य में आपसे कोई भी ईर्ष्या करने वाला नहीं है।

रानी की बात सुनकर राजा उनकी बुद्धि और उनके धैर्य पर प्रसन्न हो उठे। वे कहने लगे— तारा तुमने तो इस दशा में भी मुझे उस राज्य से भी अच्छे राज्य का स्वामी बनाया है। तुम स्त्री नहीं वरन् एक शक्ति हो। तभी मैं उसको त्यागकर इस राज्य को प्राप्त कर सका हूँ। वास्तव में तुमने मेरे दुःख की गठड़ी ले ली है। अब मुझे कोई दुःख नहीं रहा इसलिए चलो अब और आगे बढ़ें।

राजा-रानी फिर चलने लगे। पिता के मूर्छित होकर गिर जाने और माता पिता की बातचीत करते देख बालक रोहित भूखा होते हुए भी शान्तचित्त बैठा था लेकिन बालक अपनी भूख को कबतक दबा

सकता था ? वन के खट्टे-तूरे फलो से उसकी तृप्ति नही हुई थी, इसलिए माता-पिता से वह पुन खाने को मागने लगा।

जिस देव ने राजा को सत्य से डिगाने का प्रण किया था, वह तो विश्वामित्र के राज्य ले लेने और हरिश्चन्द्र को राज्य से निकाल देने पर यह विचार कर प्रसन्न हुआ था कि अब हरिश्चन्द्र सत्य का पालन न कर सकेगा परन्तु राजा को सत्यपालन के लिए इस प्रकार कष्ट सहते देख आश्चर्यचकित हो गया। इस समय उसने विचारा कि इन्हे राज्य छूटने आदि का कैसा दु ख है ? इसकी परीक्षा मैं स्वय लू। इस विचार से वह एक वृद्धा का रूप धारण करके सिर पर लड्डुओ का पिटारा रख हरिश्चन्द्र और तारा के साथ-साथ चलने लगा। वह एक लड्डू हाथ मे ले रोहित को दिखा-दिखाकर ललचाने लगा और विचारने लगा कि देखें अपने पुत्र की भूख से दु खित राजा-रानी लड्डू मागते हैं या नही। रोहित वृद्धा को लड्डू बताते देख अपनी माता की ओर देखने लगा। तारा ने रोहित से कहा— बेटा, ऐसे लड्डू तो तुम नित्य ही खाते थे और अब आगे चलकर और भी खाओगे।

माता-पिता के स्वभाव के सम्कारो का प्रभाव बालको पर भी हुआ करता हैं। जिनके माता-पिता स्वय मागना नही जानते, उनके बालक भी प्राय ऐसे ही हुआ करते हैं। ऐसे बालको को यदि कोई स्वय भी कुछ देने लगता है तो वे नही लेते, मागना तो दूर रहा। रोहित बालक था और आज दो दिन से भूखा भी था परन्तु उसने उस वृद्धा से लड्डू नही मागा और न मा से ही कहा कि तुम मुझे माग दो।

वृद्धा अपने लड्डू वाले हाथ को रोहित के समीप इस तरह ले जाती थी मानो उसे लड्डू दे रही हो परन्तु जिस तरह कोई घृणित वस्तु की ओर नही देखता, उसी तरह रोहित ने भी माता की बात सुनने के पश्चात् उसकी ओर नही देखा और न हरिश्चन्द्र या तारा ने ही उससे कहा कि तू एक लड्डू दे दे। तारा मन-ही-मन यह अवश्य कहती थी कि

रोहित को आश्वासन देने के लिए वह बुढ़ा अच्छी आ गई। इसके आ जाने से मेरे बालक का मार्ग सुगम हो गया और वह अपने भूख के दुःख को बहुत कुछ भूल गया है।

रोहित राजा और रानी की ऐसी दशा देखकर वह देव निराश हो अपना-सा मुंह लेकर एक तरफ को चलता बना।

चलते-चलते राजा रानी और रोहित काशी में गंगा तट पर आ पहुंचे। गंगा की धारा देखकर उन्हें अपूर्व हर्ष हुआ। दोनों उस धारा से अपनी तुलना करते हुए परमात्मा से प्रार्थना करने लगे कि हे प्रभो हमारी धारा भी गंगा की धारा की तरह सदा एक-सी रहे।

गंगा की धारा को संबोधित कर राजा कहने लगे— गंगे! तू हिमालय से निकलकर समुद्र में जा रही है। न तो तू किसी के लौटाने से लौटती है और न किसी के रोकने पर रुकती है। बल्कि जो तेरे मार्ग को रोकता है, उसका तू अविराम विरोध करती है। तेरी धारा सम है उसके मध्य कहीं भी विषमता नहीं है। तेरी ही तरह मैं भी इस संसार रूपी हिमालय से निकलकर परमात्मा रूपी समुद्र में जाना चाहता हूं। जिस प्रकार तेरे जल की धारा नहीं लौटती उसी प्रकार मुझे भी अपने सत्य की धारा नहीं लौटने देनी चाहिए और उस धारा में विघ्न-कर्ता झूठ का निरन्तर विरोध करते हुए समभेद से धारा को चलने देना चाहिए। अब तक तो मैं अपने इस कर्तव्य पर स्थिर रहा हूं और आशा है कि आगे भी दृढ़ रहूंगा।

गंगे! तू तो जिन प्रदेशों से होकर निकली है, उनको हरा-भरा बनाकर वहां के निवासियों को सुख देती गई है। मैं भी अवध से काशी आया हूं परन्तु वहां के लोगों को मैं क्या शान्ति प्रदान कर सका यह नहीं कह सकता।

उधर रानी कह रही थी— गंगे! तेरा नाम भी स्त्रीवाचक है और मैं भी स्त्रियों में से हूं। मैं अब अपनी और तेरी तुलना करती हूं।

जिस प्रकार तू हिमालय से निकलकर समुद्र को जाती है, उसी प्रकार हम स्त्रिया भी पीहर को छोडकर ससुराल जाती हैं। जिस तरह तू अपने एक समुद्र को छोडकर दूसरे मे जाने का विचार नही करती, उसी प्रकार हम भी एक ससुराल छोडकर दूसरी मे जाने का विचार नही करती। जैसे तू समुद्र मे जाकर मिल जाती है, दूसरी नही जान पडती, उसी तरह हम भी ससुराल मे जाकर मिल जाती हैं, दूसरी नही जान पडती। जिस तरह तू अपने उद्गम स्थान पर तो कल-कल करती है, परन्तु समुद्र मे पहुचकर शान्त और गम्भीर वन जाती है, उसी तरह हम भी पीहर मे तो कल-कल करती हैं परन्तु ससुराल मे शान्त और गभीर वन जाती हैं। जिस प्रकार तेरी एक धारा होने से तू पावन कहलाती है, उसी प्रकार हम मे भी जो एक धारा रखती हैं वे पावन कहलाती हैं। जिस प्रकार तू नि स्वार्थ-भाव से समुद्र मे जाती है, उसी प्रकार हम भी नि स्वार्थ-भाव से ससुराल जाती हैं। जैसे तू अविराम वहती और उस वहाव मे बाधा पहुचाने वाले का विरोध करती रहती है, उसी प्रकार हम भी पति-सेवा तथा उनके हित-चिन्तन मे सलग्न रहती और उसमे वाधा पहुचाने वाले विषयो का विरोध करती हैं। जिम प्रकार तू अपनी धारा को रोकने वाले पहाडो को चीर डालती है, उसी प्रकार हम भी अपने पतिहित की धारा को रोकने वाले सुखो को चीर डालती हैं। गगे ! अब वता, ऐसा करना तूने हम स्त्रियो से सीखा है या हम स्त्रियो ने तुझसे सीखा है ?

गगे ! यदि इसमे मैंने कोई अहकार की बात कही हो तो मुझे क्षमा करना। क्षमा के साथ-साथ मैं तुझसे यह और मागती हू कि मेरे जो धारा इस समय बह रही है, वह अन्त तक ऐसी ही बनी रहे।

दम्पति ने इस प्रकार गगा से अपनी तुलना की और वहा से चलकर धर्मशाला मे आए।

धर्मशाला वनवाने का अभिप्राय तो यह होता है कि उसमे उन लोगो को रहने दिया जाए, जिनके रहने का कोई स्थान नही है और जो

रोहित को आश्वासन देने के लिए यह वृद्धा अचानक आ गई। इसके आ जाने से मेरे मारक का मार्ग सुगम हो गया और यह अपने भूख के दुःख को बहुत कुछ भूल गया है।

रोहित राजा और रानी की ऐसी दृढ़ता देखकर वह देव निराश हो अपना-सा मुंह लेकर एक तरफ को चलता बना।

चलते चलते राजा रानी और रोहित काशी में गंगा तट पर आ पहुंचे। गंगा की धारा देखकर उन्हें अपूर्व हर्ष हुआ। दोनों उस धारा से अपनी तुलना करते हुए परमात्मा से प्रार्थना करने लगे कि हे प्रभो हमारी धारा भी गंगा की धारा की तरह सदा एक-सी रहे।

गंगा की धारा को संबोधित कर राजा कहने लगे— गंगे ! तू हिमालय से निकलकर समुद्र में जा रही है। न तो तू किसी के लौटाने से लौटती है और न किसी के रोकने पर रुकती है। बल्कि जो तेरे मार्ग को रोकता है, उसका तू अविराम विरोध करती है। तेरी धारा सम है, उसके मध्य कहीं भी विषमता नहीं है। तेरी ही तरह मैं भी इस संसार रूपी हिमालय से निकलकर परमात्मा रूपी समुद्र में जाना चाहता हूँ। जिस प्रकार तेरे जल की धारा नहीं लौटती उसी प्रकार मुझे भी अपने सत्य की धारा नहीं लौटने देनी चाहिए और उस धारा में विघ्न-कर्ता झूठ का निरन्तर विरोध करते हुए समभेप से धारा को चलने देना चाहिए। अब तक तो मैं अपने इस कर्तव्य पर स्थिर रहा हूं और आशा है कि आगे भी दृढ़ रहूंगा।

गंगे ! तू तो जिन प्रदेशों में होकर निकली है, उनको हरा-भरा बनाकर वहां के निवासियों को सुख देती गई है। मैं भी अवध से काशी आया हूं परन्तु यहां के लोगों को मैं क्या शान्ति प्रदान कर सकूंगा यह नहीं कह सकता।

उधर रानी कह रही थी— गंगे ! तेरा नाम भी स्त्रीवाचक है और मैं भी स्त्रियों में से हूं। मैं अब अपनी और तेरी तुलना करती हूं।

जिस प्रकार तू हिमालय से निकलकर समुद्र को जाती है, उसी प्रकार हम स्त्रिया भी पीहर को छोडकर ससुराल जाती हैं। जिस तरह तू अपने एक समुद्र को छोडकर दूसरे मे जाने का विचार नही करती, उसी प्रकार हम भी एक ससुराल छोडकर दूसरी मे जाने का विचार नही करती। जैसे तू समुद्र मे जाकर मिल जाती है, दूसरी नही जान पडती, उसी तरह हम भी ससुराल मे जाकर मिल जाती हैं, दूसरी नही जान पडती। जिस तरह तू अपने उद्गम स्थान पर तो कल-कल करती है, परन्तु समुद्र मे पहुचकर शान्त और गम्भीर बन जाती है, उसी तरह हम भी पीहर मे तो कल-कल करती हैं परन्तु ससुराल मे शान्त और गभीर बन जाती हैं। जिस प्रकार तेरी एक धारा होने से तू पावन कहलाती है, उसी प्रकार हम मे भी जो एक धारा रखती हैं वे पावन कहलाती हैं। जिस प्रकार तू नि स्वार्थ-भाव से समुद्र मे जाती है, उसी प्रकार हम भी नि स्वार्थ-भाव से ससुराल जाती हैं। जैसे तू अविराम बहती और उस बहाव मे बाधा पहुचाने वाले का विरोध करती रहती है, उसी प्रकार हम भी पति-सेवा तथा उनके हित-चिन्तन में सलग्न रहती और उसमे बाधा पहुचाने वाले विषयों का विरोध करती हैं। जिस प्रकार तू अपनी धारा को रोकने वाले पहाडो को चीर डालती है, उसी प्रकार हम भी अपने पतिहित की धारा को रोकने वाले सुखो को चीर डालती हैं। गगे! अब बता, ऐसा करना तूने हम स्त्रियो से सीखा है या हम स्त्रियो ने तुझसे सीखा है?

गगे! यदि इसमे मैंने कोई अहकार की बात कही हो तो मुझे क्षमा करना। क्षमा के साथ-साथ मैं तुझसे यह और मागती हू कि मेरे जो धारा इस समय बह रही है, वह अन्त तक ऐसी ही बनी रहे।

दम्पति ने इस प्रकार गगा से अपनी तुलना की और वहा से चलकर धर्मशाला में आए।

धर्मशाला बनवाने का अभिप्राय तो यह होता है कि उसमें उन लोगो को रहने दिया जाए, जिनके रहने का कोई स्थान नही है और जो

तत्काल ही अपना अन्य प्रबन्ध नहीं कर सकते हैं। लेकिन आजकल सुना जाता है कि प्राय किसी बड़े आदमी के आने पर या आने की सूचना मिलने पर धर्मशाला से गरीबों को तो निकाल दिया जाता है या ठहरने नहीं दिया जाता और धनिकों के लिए संपूर्ण धर्मशाला या उसका कुछ भाग सुरक्षित कर दिया जाता है। परन्तु जिन धर्मशालाओं में ऐसा होता है वे वास्तव में धर्मशाला नहीं बल्कि धनिकों की विलासशाला हैं।

१७. काशी में

निन्दतु नीति निपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मी' रामाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथ. प्रविचलन्ति पद न धीरा' ॥

नीति-निपुण मनुष्य की चाहे कोई निन्दा करे या स्तुति करे। लक्ष्मी आए अथवा स्वेच्छानुसार चली जाए। चाहे आज ही मृत्यु हो जाए या युगान्तर मे हो। किन्तु धीर मनुष्य न्याय-मार्ग से एक कदम भी विचलित नही होते हैं।

ऊपर कहे गए नीति-वाक्य के अनुसार हरिश्चन्द्र, तारा और रोहित ने दो दिन से भूखे तथा पास मे एक पैसा न होते हुए भी किसी से भीख मागने या अनुचित रीति से अपनी क्षुधा मिटाने का विचार नहीं किया। इस प्रकार कष्ट सहकर भी नीति को न छोडने के कारण ही अनेक युग बीत जाने पर भी आज लोग हरिश्चन्द्र और तारा की प्रशसा करते हैं तथा उनके चरित्र का पटन-श्रवण करते हैं।

रोहित को लिये हुए राजा-रानी धर्मशाला मे आए। धर्मशाला का व्यवस्थापक दीनवेशधारी राजा-रानी को देख आश्चर्य-चकित हो विचारने लगा कि आज तक इस धर्मशाला मे अनेक स्त्री-पुरुष, धनिक और निर्धन आए परन्तु ऐसा सुन्दर तो एक को भी नही देखा। कहीं सौन्दर्य ही तो मनुष्यरूप धारण करके नही आया है? ऐसा सोचकर उसने पूछा कि आप कौन हैं और यहा किस अभिप्राय से पधारे हैं?

राजा— हम दीन श्रमजीवी हैं। जीविकोपार्जन के लिए यहां आए हैं और इस धर्मशाला में ठहरने के इच्छुक हैं। हमें यहीं थोड़ा-सा स्थान दे दीजिए, जहां हम लोग रह सकें।

व्यवस्थापक— आप लोगों को जितने और जिस स्थान की आवश्यकता हो ले लीजिए।

राजा— हम दीन हैं इसलिए हमें विशेष स्थान तो नहीं चाहिए, लेकिन एक छोटी-सी कोठरी दे दीजिए और उसका कितना किराया होगा यह भी बतला दीजिए।

व्यवस्थापक— किराया ! यहां किराया नहीं लिया जाता और न कोई किराया देकर रहनेवाला आता ही है। यह तो धर्मशाला है। यहां दीनों को रहने के लिए स्थान भी है और भोजन भी दिया जाता है।

राजा— यदि ऐसा है और हम यहां किराए पर कोई स्थान नहीं मिल सकता तो फिर हम कोई अन्य स्थान ढूंढेंगे। लेकिन बिना किराया दिए तो हम नहीं रह सकेंगे।

व्यवस्थापक— जब आप लोग दीन हैं तो किराया कहां से देंगे? क्या यहां का भोजन भी नहीं करेंगे ?

राजा— मैं धर्मार्थ मिलनेवाला भोजन भी नहीं कर सकता और न बिना किराया दिए रह ही सकता हूं। मैं जिस तरह अपना उदर पोषण करूंगा उसी प्रकार से किराया भी दूंगा।

व्यवस्थापक— ऐसा क्यों ?

राजा— इसलिए कि मैं दीन हूं परन्तु भिखारी नहीं।

व्यवस्थापक— तो क्या तुम्हारे स्त्री-पुत्र भी यहां भोजन नहीं करेंगे ? उन्हें तो भोजन करने दें।

राजा— नहीं।

व्यवस्थापक— पुत्र तो अभी बालक है, उसे तो भोजन कराने में कोई हर्ज नहीं है।

राजा— एक समय का भिक्षा या धर्मार्थ मिला हुआ भोजन भी संस्कारो मे अन्तर डाल सकता है।

राजा की बातें सुनकर व्यवस्थापक बहुत ही प्रसन्न हुआ। वह मन-ही-मन कहने लगा कि यद्यपि ये हैं तो दीन, परन्तु हैं कोई नीतिज्ञ और भले आदमी। अत उसने जाने देना उचित न समझा और एक छोटा-सा स्थान दिखाकर किराया भी बता दिया। स्त्री-पुत्र सहित राजा उस कोठरी मे आए। राजा ने तारा से कहा— तुम जब तक इसे झाड-बुहार कर साफ करो, तब तक मैं नगर मे उद्योग कर कुछ भोजन-सामग्री ले आऊ।

जिसके यहा हजारो मजदूर काम किया करते थे, वही राजा मजदूरो के दल मे सम्मिलित हो मजदूरी कर रहे थे और जो रानी सदैव हजारो दास-दासियो पर आज्ञा करती थी, वही अपने हाथो झाड़ू निकाल रही थी। तथापि दोनो ही इस विचार मे प्रसन्न थे कि हम सत्य के लिए तपस्या कर रहे हैं।

बात-की-बात मे रानी ने कोठरी झाड-बुहारकर साफ कर ली और आसपास की दूकानों से भोजन बनाने के लिए किराए पर बरतन भी ले आई। यह सब कर चुकने पर रानी विचारने लगी कि पति तो काम की तलाश मे गए हैं परन्तु वे इस समय सिवाय मजदूरी के और क्या करेंगे? वे मजदूरी करके लाए गे और तब मैं भोजन बनाकर दू, इसमे मेरी क्या विशेषता होगी? इधर वैसे ही वे दो दिन से भूखे हैं, फिर भी मजदूरी करने गए हैं और वे मजदूरी करके लाए, मैं बनाऊगी तब तक फिर भूखे रहेंगे। इधर मैं भी उस समय तक यो ही बैठी रहूगी। जब वे मजदूरी करने गए हैं, तब मुझे मजदूरी करने मे क्या हर्ज है? मैं तो उनकी अर्द्धांगिनी हू। वे राजा थे तो मैं रानी थी। जब वे मजदूर हैं तो मैं भी मजदूरनी हू।

ऐसा विचार कर रानी पडोस की स्त्रियो के निकट जाकर कहने लगी, यदि आप लोगो के यहा कोई मजदूरी का कार्य हो तो कृपा करके

मुझे बतलाइए।

तारा व रोहित के रूप-सौन्दर्य को देख और बात सुनकर उन स्त्रियों का हृदय भर आया। वे आपस में कहने लगीं कि यह है तो कोई भद्र-महिला परन्तु है विपद्ग्रस्त। उनमें से एक ने रानी से पूछा कि आप कौन हैं और क्या क्या काम कर सकती हैं?

रानी— मैं मजदूरनी हूं। पीसना कूटना बरतन मांजना कपड़े धोना आदि सब कार्य करना जानती हूं।

तारा की इस बात ने उन स्त्रियों के हृदय में और भी करुणा उत्पन्न कर दी। वे कहने लगी कि तुम मजदूरनी तो नहीं जान पड़तीं परन्तु विपत्ति की मारी अवश्य हो। हमें तुमसे मजदूरी कराना उचित प्रतीत नहीं होता, अतः तुम्हें जो चाहिए हो सो ले लो।

रानी— यदि मुझे सम्मान के योग्य समझती हैं तो आप लोग मुझे भिखमंगी न बनाइए और कोई मजदूरी का कार्य देने की कृपा कीजिए। यदि कार्य न हो तो मना कर दीजिए। देर करने से हमें भोजन बनाने में भी देर होगी जिसके फलस्वरूप हमें अधिक समय तक भूख सहनी पड़ेगी। मैं बिना मजदूरी किए तो आपसे कुछ भी नहीं ले सकती।

स्त्रियों ने जब समझ लिया कि यह ऐसे न लेगी तब उन्होंने तारा को कुछ काम दिए। जिनको तारा ने इतने शीघ्र और कुशलता पूर्वक किया कि वे सब उसकी कार्यकुशलता पर मुग्ध हो गईं। उन्होंने मजदूरी दी और मजदूरी पाकर तारा ने भोजन सामग्री खरीदी और उससे भोजन बनाकर रोहित को परसा। सदा के अनुसार रोहित भोजन गया और माता से कहने लगा कि तुम भी भोजन करो। परन्तु तारा ने उसे समझाया कि तेरे पिताजी के आ जाने पर मैं भी भोजन करूंगी। तारा के समझाने-बुझाने पर रोहित ने भोजन किया।

रोहित को भोजन कराकर रानी द्वार पर बैठी पति की प्रतीक्षा करने लगी। उधर राजा भी इस विचार से कि बालक और रानी भूखे

हैं। मजदूरी मिलते ही भोजन-सामग्री खरीदकर स्थान पर आए। राजा के आने पर रानी ने कहा— नाथ, भोजन कीजिए। राजा आश्चर्य से पूछने लगे कि भोजन बनाने की सामग्री लेकर तो अब आ रहा हू, तुमने भोजन कहा से बना लिया ?

रानी— प्रभो, अच्छा हो कि यह बात आप भोजन करने के बाद पूछिए। हा, यह मैं आपको विश्वास दिलाती हू कि यह भोजन न्यायोपार्जित है, अन्यायोपार्जित नही।

रानी के विश्वास दिलाने पर राजा ने भोजन किया और फिर रानी से पूछा— प्रिये, अब बताओ कि यह भोजन-सामग्री तुमने कहां से और कैसे प्राप्त की ? मुझे आश्चर्य है कि तुमने इतने ही समय मे सामग्री कैसे प्राप्त कर ली ?

रानी— प्रभो, आप यह सामग्री कहा से लाए हैं ?

राजा— यह तो मैं मजदूरी करके लाया हू।

रानी— मजदूर की स्त्री भी मजदूरनी ही होती है। आप जब मजदूरी करने गए तो फिर मुझे मजदूरी करने मे क्या लज्जा हो सकती थी। जिस प्रकार आप मजदूरी करके यह भोजन-सामग्री लाए हैं, उसी प्रकार मैं भी मजदूरी करके लाई हू। जब आपको अन्यायवृति प्रिय नहीं, तो मुझे कैसे प्रिय हो सकती थी ? आपकी लाई हुई भोजन-सामग्री शेष रहेगी। गृहस्थ का कर्तव्य है कि अल्प सचय करे, तो अपने यहा भी कम-से-कम एक-दो समय की भोजन-सामग्री शेष होनी ही चाहिए। स्वामी, हम लोगो को अब किसी प्रकार का कष्ट नही हो सकता। क्या आप और मैं दोनों मिलकर अपना पेट भरने के लिए भी नही कमा सकेंगे ?

रानी की बात सुनकर राजा को सन्तोष हुआ। वे आश्चर्य-पूर्वक कहने लगे— तारा तुमने तो गजब कर दिया। तुम-सी स्त्री पाकर मैं कृतार्थ हुआ।

जो राजा और रानी कुछ ही दिन पहले धन-धान्यादि से सुखी थे, अब गरीबीपूर्ण जीवन मे, रूखे-सूखे भोजन में और धर्मशाला की एक

छोटी-सी किराए की कोठरी में ही अपने को सुखी मान रहे थे। जिनके यहां हजारों मजदूर लगे रहते थे, वे आज स्वयं मजदूरी करके और ऐसा करते हुए भी अपने-आपको सुखी समझ रहे थे। इस गरीबी को दूर करने के लिए किसी अन्यायपूर्ण कार्य करने की इच्छा भी स्वप्न में नहीं करते थे। इसीलिए नीतिकारों ने कहा है कि धीर मनुष्य चाहे कैसी परिस्थिति में हों किन्तु वे कभी भी न्यायमार्ग नहीं छोड़ते हैं।

राजा और रानी इसी प्रकार मजदूरी करके सुखपूर्वक दिन व्यतीत करने लगे। रानी अपने गृहकार्य से निवृत्त होकर पड़ोस के घरों में मजदूरी करने जाती और राजा सवेरे ही जाकर मजदूरों के दल में सम्मिलित हो जाते थे। राजा और रानी को देखकर लोग आश्चर्य करते और विचार करते थे कि ये कौन हैं? परन्तु न तो कोई इन्हें पहचान ही सका और न इन्होंने ही किसी को अपना परिचय दिया। अपने दल में एक नये मजदूर को सम्मिलित होते देख मजदूर भी आपस में कानाफूसी करते कि यह कौन है? इसका ललाट कितना भव्य है, भुजाएं कैसी लम्बी हैं वक्षस्थल कैसा चौड़ा है और शरीर कितना सुन्दर तथा सुडौल है? यह कोई देव तो नहीं है जो मजदूर के वेश में हम से कुछ छल करने आया हो? यह मजदूरी के तो सभी कार्य जानता है परन्तु इसके पास मजदूरी का कोई औजार नहीं है।

मजदूरों में से एक मजदूर ने साहस करके राजा से पूछा—महाशय *हम आपका परिचय जानना चाहते हैं।*

राजा— भाई, जैसे मजदूर आप हैं वैसा ही मैं भी हूं। मजदूरों का विशेष परिचय क्या? हम सबको तो अपने कार्य का ध्यान रखकर आपस में सहयोग रखना चाहिए।

राजा का उत्तर सुनकर उसे और कुछ पूछने का साहस ही न हुआ।

राजा जिनके यहां मजदूरी पर जाते थे वे भी उनके कार्य से प्रसन्न रहते थे। मजदूरी के जितने भी कार्य होते हैं, राजा उन सभी को

जानते थे। पहले के लोग इसीलिए अपनी सन्तान को सब कार्य सिखलाते थे कि किसी समय और किसी भी दशा मे वह भूखो न मरे।

राजा का मजदूरों से अच्छा प्रेम हो गया। राजा उन्हे उचित सलाह देते और यथासामर्थ्य उनकी सहायता भी करते थे। इस प्रकार सब मजदूर उनके अनुगामी बन गए और महाराज हरिश्चन्द्र का मजदूरो पर एक छोटा सा राज्य हो गया।

१८ ऋण-मुक्ति का उपाय

महाराज हरिश्चन्द्र और महारानी तारा मजदूरी करते हुए आनन्द पूर्वक दिन व्यतीत कर रहे थे परन्तु विश्वामित्र के ऋण की चिन्ता उन्हें चैन नहीं लेने देती थी। हरिश्चन्द्र के पास कुछ न होते हुए भी वे ऋण-मुक्त होने की चिन्ता में थे और एक आज के वे लोग हैं जो ऋण लेकर देने की सामर्थ्य होते हुए भी नहीं देते हैं या कह देते हैं कि हमने लिया ही नहीं था फिर दिवाला निकाल देते हैं और एक हरिश्चन्द्र हैं जिन्होंने विश्वामित्र से ऋण तो लिया नहीं था केवल दक्षिणा देना जबान से मात्र कह दिया था तब भी उन्हें देने की चिन्ता थी। इस अंतर का कारण यही है कि आज के ऐसा करने वाले लोगों ने तो अन्याय वृत्ति को अपना साधन मान रखा है लेकिन हरिश्चन्द्र को न्याय-वृत्ति ही प्रिय थी। सत्पुरुषों की ऐसी वृत्ति को देख कर ही किसी कवि ने कहा है—

प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभंगेऽप्यसुकरं—
त्वसन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यः कृशधनः ।
विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयं च महतां—
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥१॥

सत्पुरुषों को यह तलवार की धार जैसा कठिन व्रत किसने बताया है। जो प्राण जाने पर भी मलिन और पाप कर्म नहीं करते किन्तु न्यायोपार्जित आजीविका ही जिनको प्रिय है। वे दुष्टों से या अल्पधन वाले सज्जनों से भी याचना करना नहीं जानते हैं। जैसे-जैसे विपत्ति आती है वैसे-वैसे नहीं घबराते हुए सदा उच्चपद के ही विचार करते और महानता के ही अनुगामी बनते जाते हैं।

एक दिन इसी चिन्तित दशा मे राजा को नीद आ गई। किन्तु कुछ देर पश्चात चौंककर वे जाग गए और बैठ गए। पति को इस प्रकार चौंकते देख रानी ने उनसे इसका कारण पूछा। हरिश्चन्द्र कहने लगे—प्रिये, विश्वामित्र का जो ऋण मुझ पर लदा है, वह मुझे किसी भी समय चैन नहीं लेने देता है।

पति की बात सुनकर तारा कहने लगी— नाथ आप चिन्ता क्यो करते हैं ? जैसा ऋण आप पर है, वैसा ही मुझ पर भी तो है। फिर आप अकेले चिन्ता क्यो करें ? किसी-न-किसी प्रकार ऋण से मुक्त हो ही जाए गे।

हरिश्चन्द्र— लेकिन ऋण-मुक्त होगे कैसे ! अपनी आमदनी तो केवल इतनी ही है कि उससे निर्वाह हो सकता है। एक सहस्र स्वर्ण-मुद्रा आएगी कहा से, जो ऋण भी दिया जा सके ?

तारा—स्वामी, जब हम अयोध्या से चले थे तब तो खाने को भी पास नही था और न आशा थी कि काशी मे हमे कुछ मिल जाएगा। फिर भी यहाँ हमारा काम किस प्रकार चल रहा है कि आप भी भोजन करते हैं और— गृहस्थो का कर्तव्य-पालन करते हुए — अतिथि-सत्कार भी करते हैं।

राजा— उद्योग।

तारा— जिस उद्योग से खाने को मिल रहा है तो उसी उद्योग से ऋण भी दिया जाएगा। फिर आप चिन्ता क्यो कर रहे हैं ?

राजा— यह तो मैं पहले ही कह चुका हू कि उद्योग द्वारा हमारी आय इतनी नही होती कि जीवन-निर्वाह भी हो जाए और ऋण-मुक्त भी हो सकें। अतएव चिन्ता क्यो न करू ?

तारा— यदि हमारी नीयत साफ है, सत्य पर अटल हैं, ऋण चुकाने की सच्ची चिन्ता है तो ऋण अवश्य ही चुक जाएगा। ऋण तो उनका नही चुकता जो चुकाने की ओर से उदासीन हैं, किन्तु आप तो उसके लिए चिन्तित हैं। अत आप तो अवश्य ही ऋण-मुक्त होगे।

रानी की बात सुनकर राजा को धैर्य प्राप्त हुआ। कुछ दिन तो राजा-रानी उसी प्रकार अपने कार्य मे लगे रहे परन्तु अवधि के कुछ दिन

शेष रहने पर राजा को पुनः ऋण-चिंता ने घेर लिया। राजा ने सोचा कि कैसे भी हो ऋण मुक्त होना चाहिए। उस दिन वे मजदूरी करने नहीं गए और किसी के यहां नौकर रहकर ऋण की मोहरें प्राप्त करने के विचार से बाजार गए। एक बड़ी-सी दुकान पर पहुंचकर उसके एक सेवक से कहा कि मुझे सेठ से कुछ कहना है। दीनवेषधारी राजा को पहले तो वह सेवक टालता ही रहा परन्तु राजा के विशेष अनुनय-विनय करने पर उसने सेठ को सूचना दी कि एक मजदूर आपसे कुछ बात करना चाहता है।

जिन मजदूरों की कमाई पर धनिकों का जीवन निर्भर है जो श्रमजीवी आप छोटे रहकर भी दूसरों को बड़ा बनाते हैं प्रायः उन्हीं श्रमजीवियों की बात को वे बड़े लोग नहीं सुनते हैं। उनको उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं उनके दुख पर ध्यान नहीं देते बल्कि विशेष कहने-सुनने पर उनके साथ अभद्रतापूर्ण व्यवहार तक करते हुए सुने जाते हैं। वे धन के कारण धनान्ध हो जाते हैं। ऐसों को ही लक्ष्य कर एक शायर ने कहा है—

> नशा दौलत का बदअतवार को जिस आन चढ़ा।
> सर पै शैतान के एक और शैतान चढ़ा॥

अनुत्तमशून्य और क्षुद्रहृदय मनुष्य पर जिस क्षण संपत्ति का नशा चढ़ा गया उस समय मानो शैतान के सिर पर एक और शैतान चढ़ गया है।

यद्यपि यह है सर्वथा अनुचित कि दीनों पर दया न करना अपने उपकारी का उपकार न मानना। परन्तु धन के मद में उन्हें अपने कर्तव्य का ध्यान नहीं रहता है। धन के नाश हो जाने पर जब वे भी उसी भ मी मे आ जाते हैं तब चाहे उन्हें अप नी भूल प्रतीत हो और श्रमजीवियों से प्रेम करने लगें परन्तु पहले ही यदि वे इस बात को समझ लें तो ऐसा पश्चात्ताप करने का अवसर ही क्यों आए?

परन्तु मजदूर वेषधारी राजा से बातचीत करना उस धनान्ध सेठ को तब उचित प्रतीत हो सकता था अतः उसने राजा की ओर देखकर

अपने मुनीम-गुमाश्तो से कहा कि कोई मजदूरी का काम हो तो इसे दे दो।

राजा— मैं मजदूर तो हू ही और मजदूरी मेरा धन्धा है परन्तु इस समय मैं उसके लिए नही आया हू । मैं तो आपसे एक ऐसी बात कहना चाहता हू कि जिसमे आपका भी लाभ है और मेरा भी लाभ है ।

परन्तु सेठ ने यह विचार कर कि यह मजदूर मेरे लाभ की क्या बात बता सकता है और कौन इससे बात करने मे समय खोए, राजा को धुतकार दिया । राजा वहा से निराश होकर दूसरी दुकान पर पहुचे, परन्तु वहा भी यही दशा हुई । इस प्रकार कई दुकानो पर गए परन्तु किसी ने भी उनकी बात नही सुनी । जिस प्रकार हीरे की पहिचान न होने के कारण भीलनी उसकी उपेक्षा कर घु घची को महत्त्व देती है, उसी प्रकार राजा की भी कोई परीक्षा न कर सका और उन्हे सभी जगह निराश होना पडा ।

इस तरह अनेक स्थानो पर अपमानित होने पर भी राजा निराशा को दबाकर प्रयत्न करते रहे । एक सेठ ने राजा की बात सुनना स्वीकार किया । राजा ने कहा— मैं लिखना-पढ़ना, नापना-तौलना आदि व्यापार सबधी सब कार्य जानता हू । इतना ही नहीं, एक सैनिक की तरह दुकान की रक्षा भी कर सकता हू । किन्तु मैं ऋणी हू, अत आप मेरा ऋण चुका-कर मुझे अपने यहा नौकर रख लीजिए और जब तक मैं ऋण-मुक्त न हो जाऊ, तब तक आप मुझसे काम लीजिए और मेरा वेतन अपने लेने मे जमा करते रहिए।

सेठ— तो फिर खायगा क्या ?

राजा— मेरी स्त्री मजदूरी करती है और उसी मजदूरी से मेरा निर्वाह हो जाएगा ।

सेठ— कितना ऋण है ?

राजा— एक हजार मुहरें ।

सेठ— एक हजार ! क्या जुआ खेला था ?

राजा— नही ।

सेठ— तो फिर इतना ऋण कैसे हो गया ? क्या किसी और व्यसन में फंस गया था ?

राजा— मैं व्यसन के समीप भी नहीं जाता । मुझे एक ब्राह्मण की दक्षिणा देना है, बस यही ऋण है ।

सेठ— तेरा जितना वेतन नहीं होगा, उससे अधिक तो रकम का ब्याज हो जाएगा । इस प्रकार हमारी रकम तो कभी पूरी हो ही नहीं सकती । इसके अलावा तेरा विश्वास क्या और तू भाग जाए तो हम कहां ढूंढते फिरेंगे ?

राजा— आप विश्वास रखिए, मैं कदापि नहीं भाग सकता ।

सेठ— हमको धोखा देता है, मूर्ख समझता है । एक हजार स्वर्ण मुद्रा की दक्षिणा देने वाला और दुकान का सब कार्य जानने वाला मनुष्य इस हालत में कदापि नहीं रह सकता है। चल भाग जा यहां से । बेकार की बातें करके हमारा समय खराब न कर ।

राजा— सेठ जी आप नौकर रखकर तो देखिए कि मैं आपकी दुकान की कैसी उन्नति करता हूं ।

सेठ— पहले अपनी उन्नति तो कर के फिर हमारी दुकान की करना । अपना पेट तो भरा नहीं जाता और चला है हमारी दुकान की उन्नति करने !

इस सेठ से भी ऐसा अपमानजनक उत्तर सुनकर राजा निराश हो गए । वे वापस धर्मशाला लौट आए और तारा से कहने लगे— आज मैंने कभी मजदूरी भी की कोई जगह-जगह अपमानित भी हुआ परन्तु किसी ने मेरी पूरी बात नहीं सुनी और न कार्य ही सिद्ध हुआ । अब क्या करूं किस प्रकार ऋण से छुटकारा मिले ।

तारा— नाथ विपत्ति के समय ऐसा ही होता है । यदि ऐसा न हो और कोई किसी प्रकार से सहायता दे या बात सुनने लगे तो फिर वह विपत्ति ही कैसी ? स्वामी विपत्ति के समय तो केवल धैर्य धारण

कीजिए। जिस सत्य के लिए हम इस विपत्ति को सह रहे हैं, वही हमे इस चिन्ता से भी मुक्त करेगी।

यद्यपि तारा ने हरिश्चन्द्र को बहुत कुछ धैर्य दिया परन्तु उन्हें शान्ति न मिली। ऋण की मियाद का दिन जैसे-जैसे निकट आ रहा था, वैसे-वैसे ही राजा का खाना-पीना भी छूटता जा रहा था। होते-होते यह दशा हो गई कि राजा चलने-फिरने से भी अशक्त हो गए।

मनुष्य के लिए चिन्ता से बढकर अन्य कोई कष्ट दु खदायी नही होता है। चिन्ता भीतर-ही-भीतर मनुष्य को भस्म कर देती है। किसी कवि ने कहा है—

चिन्ता ज्वाल शरीर वन, दव लागी न बुझाय।
बाहर धुंआ न नीसरे अन्दर ही जल जाय॥
अन्दर ही जल जाय जरे ज्यों कांच की भट्टी।
रक्त मांस जरि जाय, रहे पिंजर की टट्टी॥
कह गिरधर कविराय, सुनो रे सज्जन मिन्ता।
वे नर कैसे जिए, जिन्हें तन व्यापी चिन्ता॥

ऋण चिन्ता से व्याकुल राजा को चारों ओर निराशा-ही-निराशा दिखलाई पडती थी। चिन्ता से अत्यधिक आतुर हो वे परमात्मा की प्रार्थना करने लगे—हे प्रभो, जिस सत्य के लिए मैंने राज-पाट छोडा, मैं मजदूर तथा रानी मजदूरनी बनी, अनेक प्रकार के कष्ट सहे, वह सत्य, क्या इस थोडे से ऋण के लिए चला जाएगा ? सत्य जाने के पहले यदि मृत्यु हो जाए तो श्रेष्ठ है, परन्तु सत्य न जाने पाए।

पति की यह दु खावस्था रानी से देखी नही जाती थी। वे पति को धैर्य भी बधाती और विचारती कि यदि पति के वचन की रक्षा मेरे प्राण देने से होती हो तो मैं इसके लिए भी तैयार हू।

जहा, आज की स्त्रिया इसके लिए तैयार नही होती कि थोडे-से आभूषण दे देने मे पति के वचन की रक्षा होती है, वहा रानी अपनें प्राण

देकर भी पति के वचन की रक्षा करने को तैयार है। यदि आज की स्त्रियां तारा का आदर्श सामने रखें तो सर्वस्व देने को तैयार हो जाए।

राजा को तो ऋण की चिन्ता थी और तारा को राजा की चिन्ता। वे विचारती थीं कि मैंने जिस पति के लिए सब सुख तृण की तरह छोड़ दिए, जिस पति का मुख-चन्द्र देखकर मैं मजबूरी करती हुई भी कुमुदिनी की तरह प्रसन्न रहती हूं उस पति की यह दशा हो गई है। अब मैं क्या करूं ? इसी चिन्ता में रानी के नैनों से अविरल अश्रु धारा बह चली।

आज मियाद का अन्तिम दिन था। राजा इसी चिन्ता में थे कि आज के सूर्य में ऋण कैसे चुकाया जाय ? रानी भी ऋण और पति की चिन्ता से विकल थीं। दोनों के नैनों से आसू बह रहे थे और दोनों ही उदास थे। उसी समय धर्मशाला के द्वार पर आकर विश्वामित्र ने हरिश्चन्द्र के लिए पूछा। विश्वामित्र की आवाज सुनकर तारा और हरिश्चन्द्र की विकलता और भी बढ़ गई। वे विचारने लगे कि अब इनका ऋण कहां से चुकाया जाय ! राजा ऋण चुकाने से इन्कार तो कर नहीं सकते और पास कुछ है नहीं। अतः वे सोचने लगे कि अब इन्हें क्या उत्तर दूंगा ? इसी भय के मारे, उनकी जबान सूख गई।

कोठरी के द्वार पर विश्वामित्र यमराज की तरह आकर खड़े हो गए। वे अपनी क्रोधपूर्ण वाणी में बोले— कहां है हरिश्चन्द्र !

हरिश्चन्द्र की विकलता और विश्वामित्र को द्वार पर खड़े देख तारा धैर्य धरकर बाहर निकली और विश्वामित्र को प्रणाम करते हुए कहा— आपने बड़ी कृपा की जो पधारे। कहिए क्या आज्ञा है ?

विश्वामित्र क्रोधित होकर कहने लगे— क्या तू नहीं जानती कि मैं क्या आया हूं ? कहां है तेरा पति ? उससे कह कि मेरा ऋण दे।

तारा— महाराज आपका ऋण अवश्य देना है। आप साहूकार हैं और हम ऋणी। लेकिन यदि हमारे पास कुछ होता और हम देने की सामर्थ्य रखते तो जब राज्य देने में देर नहीं की तो दक्षिणा का ऋण देने में क्यों देर करते ? इस समय तो आप क्षमा कीजिए और कृपा करके

कुछ मुहलत और दे दीजिए। यदि हम लोग जीवित हैं तो आपका ऋण देंगे ही, किन्तु आपने हम लोगो को क्रोध से भस्म ही कर दिया तो इससे न तो आपका ऋण ही वसूल होगा और न हम ऋण-मुक्त ही हो सकेंगे।

विश्वामित्र रानी की बात सुनकर अपनी आखो को लाल-लाल करके कहने लगे— अच्छा, अब तुम लोग इस प्रकार की धूर्तता करने पर उतारू हुए हो! क्या इसीलिए वह धूर्त आप तो छिप गया और तुझे भेजा है?

तारा— आप शात हों और विचारिए कि जब हम लोग अयोध्या से चले थे, उस समय हमारे पास खाने तक को अन्न का दाना नही था। फिर हमने अपने दिन कितने कष्ट से निकाले होगे? हमारा आपका राज्य देने-लेने के कारण घनिष्ठ सम्बन्ध है, इस कारण आपको हमारे समाचार पूछकर सहानुभूति प्रकट करनी चाहिए थी। इस सम्बन्ध से भी नही, तो आप साहूकार हैं और हम ऋणी हैं, इस नाते भी आपको हमारी कुशल पूछना उचित था। लेकिन आप तो और क्रुद्ध हो रहे हैं। यदि हमारे पास देने योग्य कोई वस्तु होती और फिर हम ऋण न देते तो आपका क्रुद्ध होना उचित ही था, परन्तु जब हमारे पास ऐसी कोई चीज ही नहीं है, जिससे हम ऋण दे सकें, तब आप अकारण ही क्यो क्रुद्ध हो रहे हैं?

विश्वामित्र— मैं ऋण मागने आया हू, ज्ञान सीखने नही। यदि तुम्हारे पास उस समय कुछ नही था और इस समय भी नही है, तो मैं क्या करू? इस बात को पहले ही सोच लेना था। लेकिन तब तो हठ-वश राज्य भी दे दिया और दक्षिणा भी देना स्वीकार किया और अब, जब मियाद समाप्ति के दिन मैं दक्षिणा लेने आया, तब वह तो छिप गया और तू इस प्रकार उत्तर देती है! यदि तुम्हारे पास देने को नही है, तो अपने पति से कहो कि वह अपना अपराध स्वीकार कर ले। ऐसा कर लेने पर मैं दक्षिणा भी छोड दूगा और राज्य भी लौटा दूगा।

आज की-सी स्त्रिया होती तो सम्भवत अपने पति से कहती कि अब तो कष्ट-सहिष्णुता की सीमा हो गई, अब कब तक सत्य को लिए

राध स्वीकार कर लेने पर इस ऋण मिलता से भी
ी मिलता है। लेकिन तारा सत्यपालन और पति
र न मालूम कितना साहस रखती थी कि इतने स्प
कार्य को न तो अनुचित ही बताया और न यही
कहना चाहती थी कि आप अपराध स्वीकार कर लें।

विश्वामित्र की बात सुनकर तारा कहने लगी— महाराज आप और सब कुछ कहिए, लेकिन सत्य छोड़ने के लिए कदापि न कहिए। जिस सत्य के लिए हमने इतने कष्ट सहे और सह रहे हैं उस सत्य को अन्त समय तक भी हम नहीं छोड़ सकते। हमें राज-सुख का उतना लोभ नहीं है जितना सत्य का है। चाहे यह किसी लोभी मनुष्य से भले ही बात कि थोड़े से लोभ के लिए सत्य छोड़ दे परन्तु हमसे ऐसा न हो सकेगा।

विश्वामित्र— हूं रस्सी जल गई, एंठ नहीं गई। फिर यह बात किसे सुनाती है कि हमारे पास कुछ नहीं है? चाहे कुछ हो या न हो सत्य छोड़ो या न छोड़ो हमें हमारी दक्षिणा दे दो बस हम चले जाएंगे। मैं तो समझता था कि हरिश्चन्द्र ही हठी है, परन्तु तू तो उससे भी ज्यादा हठी जान पड़ती है!

तारा— महाराज हमें ऋण चुकाने से तो इनकार नहीं परन्तु हमारी प्रार्थना तो केवल यही है कि इस समय हमारे पास ऋण चुकाने की कोई सुविधा नहीं है। आप बुद्धिमान हैं अनुभवी हैं और हमारे साहूकार हैं, इसलिए मैं आपसे प्रार्थना करती हूं कि आप ही कोई उपाय बताइए, जिससे आपका ऋण चुका सकें। आप उपाय बताएं और फिर हम उस उपाय से आपका ऋण न चुकाएं तो अवश्य ही हम अपराधी हैं।

विश्वामित्र— उपाय भी तू ही पूछेगी? अपने पति के लिए ऐसी सुखदायी है कि उसे बोलने का भी कष्ट न होने देगी? अच्छा मैं बताता हूं उपाय किन्तु क्या उस उपाय को करेगी?

तारा— महाराज आप जो भी उपाय बताएंगे वह न्यायोचित ही होगा इसलिए हम कदापि उसके करने से पीछे नहीं हटेंगे।

विश्वामित्र— मैं उपाय बताता हू कि तुम लोग बाजार मे बिको और मेरा ऋण चुकाओ ।

यह बात सुनकर साधारण मनुष्य को क्रोध आना स्वाभाविक था । दूसरी स्त्री होती तो कहती कि जिससे लिया जाता है, उसे भी बिककर नही दिया जाता, लेकिन मेरे पति ने तो तुम्हें वचन-दान ही दिया है, अत जब होगा तब देंगे, बिकें क्यो ? लेकिन तारा को तो लिया हुआ देना और वचन-दान देना, दोनो ही समान थे। इसलिए विश्वामित्र की बात से उन्हें दु ख या क्रोध न होकर प्रसन्नता हुई । वे कहने लगी— महाराज, आपने ठीक उपाय बताया । यह उपाय अब तक मेरी बुद्धि मे आया ही न था, अन्यथा आपको इतना क्रोध करने और कुछ कहने-सुनने का कष्ट ही न करना पडता । आपने ऋण चुकाने का उपाय बता दिया है, इसलिए आज आपके ऋण से हम अवश्य ही मुक्त हो जाएगे । आपने उपाय बताने की बडी कृपा की है । अब हम अवश्य ही ऋण-मुक्त हो जाएगे और आप अपना लेना भी पा जाएगे । आप ठहरिए, मैं आज के ही सूर्य मे ऋण चुकाए देती हू ।

तारा की बात सुनकर विश्वामित्र आश्चर्यमग्न हो गए और विचारने लगे कि यह स्त्री, स्त्री नही, वरन् एक शक्ति है जो पति का ऋण चुकाने के लिए बिकने को भी तैयार हो गई । धन्य है इसे और इसके पति को भी धन्य है, जिसे ऐसी स्त्री प्राप्त हुई है ।

१६ आत्म-विक्रय

विश्वामित्र को द्वार पर ठहराकर तारा महाराज हरिश्चन्द्र के पास आई जो कोठरी में पड़े-पड़े अपने भाग्य को कोस रहे थे। तारा ने उनके पास जाकर कहा— नाथ उठिए, अब चिन्ता की कोई बात नहीं है। ऋण-मुक्त होने का उपाय विश्वामित्र ने स्वयं बता दिया है। आप मुझे बाजार में बेचकर ऋण चुका दीजिए। ऐसा करने से हम जहां ऋण-मुक्त होंगे वहीं विश्वामित्र को उनका पैसा भी मिल जाएगा और हम अपने सत्य की रक्षा कर सकेंगे।

तारा की बात सुनकर हरिश्चन्द्र का गला भर आया और कहने लगे— क्या मैं तुम्हें बेच दूं! क्या आज मेरी ऐसी परिस्थिति हो गई है कि मुझे स्त्री बेचनी पड़े? हाय! हाय! स्त्री-विक्रेता पुरुष कहलाने की अपेक्षा तो मृत्यु श्रेष्ठ है। तुम स्त्री होती हुई भी मुझसे कई गुनी श्रेष्ठ हो जो अपने पति के वचन की रक्षा के लिए स्वयं बिकने को तैयार हो लेकिन मैं पुरुष होते हुए भी अपने कर्त्तव्य के पालन में असमर्थ हूं। हे भगवन्! अब कौन कह सकता है कि नरक नहीं है। यदि ऐसा न होता तो आज तारा किस विश्वास से बिकने के लिए तैयार होती?

संसार में तीन प्रकार के मनुष्य हैं। एक तो वे जो ऋणी नहीं हैं परन्तु दान देते हैं, दूसरे वे हैं जो लेकर देते हैं और तीसरे वे हैं जो दोनों में से किसी प्रकार भी नहीं देते। अर्थात् न तो दान ही देते हैं और न लिया हुआ ऋण ही। ये तीनों प्रकार के मनुष्य क्रमशः उत्तम मध्यम और नीच माने जाते हैं। बिना लिए देने में तो विशेषता है परन्तु लेकर देने में कोई विशेषता नहीं है। फिर भी संसार में ऐसे-ऐसे मनुष्य

निकलेंगे ही जो लेकर नही देते। ऐसे मनुष्यो की गणना न तो उत्तमो मे होती है और न मध्यमो मे ही।

किसी से ऋण लेकर उसे चुका देना भी जब मध्यम दर्जे की बात है अर्थात् अच्छा तो है बिना लिए देना या केवल वचन मे देने का कहकर अनेक कष्ट सहकर भी देना तो कितनी विशेषता की बात है, जिसे आप स्वय विचारे। हमारे देश मे ऐसे कई उदाहरण है कि अपने वचन की रक्षा के लिए अपनी सतान तक को मृत्यु के मुख मे दे दिया। राज्य मे वचित रखकर अपने प्रिय पुत्र को वन भेज दिया और आत्म-विक्रय द्वारा वचन का पालन किया।

इधर एक तो राजा स्वय वैसे ही दु खी हो रहे थे तो उधर ऊपर से विश्वामित्र जले पर नमक छिडक रहे थे कि अरे घमडी! अभी तेरी अकड नही गई! अब क्या स्त्री को बेचेगा? देख, अब मैं तुझे किस प्रकार के दु ख-सागर मे ला पटकता हू कि जिससे तुझे मालूम होगा कि आश्रम की वदनी देवागनाओ को छोड देने और ऊपर से हठ करने का क्या फल होता है?

यह सब सुनकर तारा ने हरिश्चन्द्र से कहा — स्वामी-आप चिन्ता न कीजिए। मैं किसी और कारण मे नही, किन्तु सत्य-पालन के लिए बिक रही हू। सत्य-पालन के समय इस प्रकार की चिन्ता करना वीरो का काम नही है। इसलिए अब देर न कर शीघ्र दास दासियो के क्रय-विक्रय बाजार में चलिए और मुझे वहा बेचकर विश्वामित्र को एक सहस्र मुद्रा देकर हर्षित हो कि आज के सूर्य मे ही हमने ऋण चुका दिया है। यह शोक कासमय नही, वरन् प्रसन्नता का है कि हमने अपने सत्य की रक्षा कर ली है।

यद्यपि रानी उसी सत्य के पालने की बात कह रही थी, जिसके लिए राजा ने स्वय इतने कष्ट सहे है। फिर भी उन्होंने रानी की बात का कुछ भी उत्तर नही दिया। पति की ऐसी दशा देखकर रानी ने विचारा कि पति स्वय न तो मुझे बिकने की स्वीकृति ही दे सकेंगे और न चलने

१६ आत्म विक्रय

विश्वामित्र को द्वार पर ठहराकर तारा महाराज हरिश्चन्द्र के पास आई जो कोठरी में पड़े-पड़े अपने आपको कोस रहे थे। तारा ने उनके पास जाकर कहा— नाथ उठिए, अब चिन्ता की कोई बात नहीं है। ऋण-मुक्त होने का उपाय विश्वामित्र ने स्वयं बता दिया है। आप मुझे बाजार में बेचकर ऋण चुका दीजिए। ऐसा करने से हम यहां ऋण-मुक्त होंगे वहीं विश्वामित्र को उनका लेना भी मिल जायगा और हम अपने सत्य की रक्षा कर सकेंगे।

तारा की बात सुनकर हरिश्चन्द्र का गला भर आया और कहने लगे— क्या मैं तुम्हें बेच दूं! क्या आज मेरी ऐसी परिस्थिति हो गई है कि मुझे स्त्री बेचनी पड़े? हाय! हाय! स्त्री-विक्रेता पुरुष कहलाने की अपेक्षा तो मृत्यु श्रेष्ठ है। तुम स्त्री होती हुई भी मुझसे कई गुनी श्रेष्ठ हो जो अपने पति के वचन की रक्षा के लिए स्वयं बिकने को तैयार हो लेकिन मैं पुरुष होते हुए भी अपने कर्त्तव्य के पालन में असमर्थ हूं। हे भगवन्! अब कौन कह सकता है कि सत्य नहीं है। यदि ऐसा न होता तो आज तारा किस विश्वास से बिकने के लिए तैयार होती?

संसार में तीन प्रकार के मनुष्य हैं। एक तो वे जो कभी नहीं है परन्तु दान देते हैं, दूसरे वे हैं जो लेकर देते हैं और तीसरे वे हैं जो दोनों में से किसी प्रकार भी नहीं देते। अर्थात् न तो दान ही देते हैं और न लिया हुआ ऋण ही। ये तीनों प्रकार के मनुष्य क्रमशः उत्तम मध्यम और नीच माने जाते हैं। बिना लिए देने में तो विशेषता है परन्तु लेकर देने में कोई विशेषता नहीं है। फिर भी संसार में ऐसे-ऐसे मनुष्य

देशो मे यह प्रथा जोरो पर थी, उस समय भारत से इस प्रथा का अन्त हो चुका था। यद्यपि भारत मे दास-दासी के क्रय-विक्रय की प्रथा थी अवश्य, लेकिन दास-वाणिज्य के विषय मे लेखको ने यूरोप के दासो के साथ होने वाले जिन घृणित और अमानुषिक व्यवहारो का वर्णन किया है, उनसे भारत सदा बचा रहा है। वैसा अत्याचार कभी नही होने दिया जैसा पाश्चात्य देशो मे होता था। इतिहासकार कहते हैं कि इगलैड मे तो यह प्रथा उन्नीसवी शताब्दी तक बराबर जारी थी। भारत मे भी कही-कही दासत्व प्रथा अभी शेष है, लेकिन दास-व्यवसाय नही होता और इस शेष प्रथा का भी क्रमश अन्त होता जा रहा है।

रानी ने विचार किया कि पति तो दु खवश मुझे बेच न सकेंगे, इसलिए मैं स्वय ही अपने आपको बेचू । वे बाजार मे आवाज देकर कहने लगी— भाइयो ! मैं दासी हू, गृहोपयोगी सब कार्य कर सकती हू, अत जिसको दासी की आवश्यकता हो, वह मुझे खरीद लें।

रानी के स्वरूप को देखकर लोग आश्चर्य करने लगे कि यह दासी तो विचित्र प्रकार की है। इस बाजार मे अब तक ऐसी सुन्दर और सुडौल दासी कभी बिकने नही आई। इसकी सुकुमारता और रूप-लावण्य से प्रगट है कि यह कोई सभ्रान्त महिला है, परन्तु विपत्ति के वश होकर बिक रही है। इन लोगो मे से एक ने तारा से पूछा कि तुम कौन हो, कहा रहती हो और क्यो बिक रही हो ?

तारा— मैं पहले ही कह चुकी हू कि मैं दासी हू। दासी का विशेष परिचय क्या। हा, यदि आप लोग चाहे तो मैं क्या-क्या काम कर सकती हूं, यह अवश्य पूछ सकते हैं।

वह— तुम्हारा मूल्य क्या है ?

तारा— ये ऋषि खड़े हैं, इनके मैं और मेरे पति ऋणी हैं। इन्हें [illegible] सहस्र स्वर्ण-मुद्राएं देनी हैं। जो कोई इनकी एक सहस्र स्वर्ण-मु[illegible] देगा, मैं उसी के यहा दासीपना करने के लिए चलने को

के लिए आने ही होंगे। इधर सूर्य डूब रहा है और इससे पहले धन न चुका तो सत्य से भ्रष्ट भी होंगे और बिकने से जो लाभ होना चाहिए, वह भी न होगा।

ऐसा विचार कर रानी ने अपने पास बची शेष भोजन-सामग्री से कोठरी तथा बर्तन आदि का किराया चुकाकर इधर-उधर से थोड़ा-सा घास एकत्रित कर लिया और सिर पर रख* पति से कहने लगीं—स्वामी चलिए। यह समय दुःख करने का नहीं किन्तु सत्य-पालन करने का है। सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा है और यदि इससे पहले ऋण न चुका तो आप प्रतिज्ञा-भ्रष्ट हो जाएंगे।

बिकने के लिए तारा को उद्यत देखकर हरिश्चन्द्र के प्राण सूखने लगे। वे अपने मुंह से कुछ भी न बोल सके और विश्वामित्र भी अवाक् रह गए। वे मन-ही-मन कहने लगे— मैं समझता था कि मैं योगी हूं और अपने तपोबल से जिसे चाहूं नीचा दिखा सकता हूं परन्तु यह मेरा भ्रम था। विपरीत इसके इन गृहस्थों ने तो मुझे ही अपने सत्यबल से नीचा दिखा दिया है। पहले तो हरिश्चन्द्र ने ही राज्य देकर मेरा मानमर्दन किया और अब तारा बनिया के लिए बिककर मेरे रहे-सहे अभिमान को भी नष्ट कर रही है।

तारा समझ गई कि दुःख-मग्न पति मेरे चल दिए बिना कदापि न उठेंगे अतः वे रोहित को गोद में लेकर बाजार की ओर चल दी। तारा को जाते देख विवश होकर हरिश्चन्द्र भी साथ हो लिए। आगे-आगे तारा उनके पीछे हरिश्चन्द्र और इन दोनों के पीछे विश्वामित्र चलते हुए दास-दासियों के बाजार में आ पहुंचे।

भारत में भी किसी समय दास-दासी के क्रय-विक्रय की प्रथा प्रचलित थी लेकिन इतिहास से यह प्रकट होता है कि जिस समय अन्य

---

* बिकने वाले दास-दासी अपने सिर पर थोड़ी-सी घास रख लेते थे। यह उनकी बिक्री का चिह्न माना जाता था।

देशो मे यह प्रथा जोरो पर थी, उस समय भारत से इस प्रथा का अन्त हो चुका था। यद्यपि भारत मे दास-दासी के क्रय-विक्रय की प्रथा थी अवश्य, लेकिन दास-वाणिज्य के विषय मे लेखको ने यूरोप के दासो के साथ होने वाले जिन घृणित और अमानुषिक व्यवहारो का वर्णन किया है, उनसे भारत सदा बचा रहा है। वैसा अत्याचार कभी नही होने दिया जैसा पाश्चात्य देशो मे होता था। इतिहासकार कहते हैं कि इगलैंड मे तो यह प्रथा उन्नीसवी शताब्दी तक बराबर जारी थी। भारत मे भी कही-कही दासत्व प्रथा अभी शेष है, लेकिन दास-व्यवसाय नहीं होता और इस शेष प्रथा का भी क्रमश अन्त होता जा रहा है।

रानी ने विचार किया कि पति तो दु खवश मुझे बेच न सकेंगे, इसलिए मैं स्वय ही अपने आपको बेचू। वे बाजार मे आवाज देकर कहने लगी— भाइयो! मैं दासी हू, गृहोपयोगी सब कार्य कर सकती हू, अत जिसको दासी की आवश्यकता हो, वह मुझे खरीद लें।

रानी के स्वरूप को देखकर लोग आश्चर्य करने लगे कि यह दासी तो विचित्र प्रकार की है। इस बाजार मे अब तक ऐसी सुन्दर और सुडौल दासी कभी विकने नही आई। इसकी सुकुमारता और रूप-लावण्य से प्रगट है कि यह कोई सभ्रान्त महिला है, परन्तु विपत्ति के वश होकर विक रही है। इन लोगो मे से एक ने तारा से पूछा कि तुम कौन हो, कहा रहती हो और क्यो विक रही हो ?

तारा— मैं पहले ही कह चुकी हू कि मैं दासी हू। दासी का विशेप परिचय क्या। हा, यदि आप लोग चाहे तो मैं क्या-क्या काम कर सकती हू, यह अवश्य पूछ सकते हैं।

वह— तुम्हारा मूल्य क्या है ?

तारा— ये ऋषि खडे हैं, इनके मैं और मेरे पति ऋणी हैं। इन्हें एक सहस्र स्वर्ण-मुद्राएं देनी हैं। जो कोई इनकी एक सहस्र स्वर्ण-मुद्राए चुका देगा, मैं उसी के यहा दासीपना करने के लिए चलने को तैयार हू।

के लिए आते ही होंगे। इधर सूर्य डूब रहा है और इससे पहले ऋण न चुका तो सत्य से भ्रष्ट भी होंगे और बिकने से जो लाभ होना चाहिए, वह भी न होगा।

ऐसा विचार कर रानी ने अपने पास बची शेष भोजन-सामग्री से कोठरी तथा बर्तन आदि का किराया चुकाकर इधर-उधर से थोड़ा-सा घास एकत्रित कर लिया और सिर पर रख* पति से कहने लगी— स्वामी चलिए। यह समय दुःख करने का नहीं किन्तु सत्य-पालन करने का है। सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा है और यदि उससे पहले ऋण न चुका तो आप प्रतिज्ञा-भ्रष्ट हो जाएंगे।

बिकने के लिए तारा को उद्यत देखकर हरिश्चन्द्र के प्राण सूखने लगे। वे अपने मुंह से कुछ भी न बोल सके और विश्वामित्र भी आवाक् रह गए। वे मन-ही-मन कहने लगे— मैं समझता था कि मैं योगी हूं और अपने तपोबल से जिसे चाहूं नीचा दिखा सकता हूं परन्तु यह मेरा भ्रम था। विपरीत इसके इन गृहस्थों ने तो मुझे ही अपने सत्यबल से नीचा दिखा दिया है। पहले तो हरिश्चन्द्र ने ही राज्य देकर मेरा मानमर्दन किया और अब तारा दक्षिणा के लिए बिककर मेरे रहे-सहे अभिमान को भी नष्ट कर रही है।

तारा समझ गई कि दुःख-मग्न पति मेरे चल दिए बिना कदापि न उठेंगे अतः वे रोहित को गोद में लेकर बाजार की ओर चल दी। तारा को जाते देख विवश होकर हरिश्चन्द्र भी साथ हो लिए। आगे-आगे तारा उनके पीछे हरिश्चन्द्र और इन दोनों के पीछे विश्वामित्र चलते हुए दास-दासियों के बाजार में आ पहुंचे।

भारत में भी किसी समय दास-दासी के क्रय-विक्रय की प्रथा प्रचलित थी लेकिन इतिहास से यह प्रकट होता है कि जिस समय अन्य

---

*बिकने वाले दास-दासी अपने सिर पर थोड़ी-सी घास रख लेते थे। यह उनकी बिक्री का चिह्न माना जाता था।

ब्राह्मण— यद्यपि तुम्हारे सद्गुणो को देखकर एक सहस्र स्वर्ण-मुद्राए अधिक नही हैं, किन्तु मेरे पास केवल पाचसौ हैं। यदि तुम अपने बदले मे इतनी मुद्राए दिलाना स्वीकार करो, तो मैं देने को तैयार हू।

ब्राह्मण की बात सुनकर तारा विचारने लगी कि अब क्या करना चाहिए ? देनी तो हैं एक सहस्र मुद्राए और ये ब्राह्मण पाचसौ ही देते हैं ! प्रसन्नता की बात है कि जहा किसी ने मुझे एक पैसे मे भी नही खरीदना चाहा था, वहा इन्होने मेरी कीमत पाचसौ मुद्राए तो लगाई। यद्यपि इनसे सब ऋण तो नही चुकेगा, परन्तु आधी दक्षिणा मिल जाने से विश्वामित्र शात अवश्य हो जाएगे तथा शेष के लिए पति को कुछ और मियाद दे देंगे। जिसमे पति इनकी शेष मुद्राए भी चुका देंगे और कुछ ही दिनो मे मुझे भी छुडा लेंगे। अभी इनका भाग्य-सूर्य जो विपत्ति के बादलो में छिपा है, वह सदा छिपा न रहेगा।

ऐसा विचार कर तारा ने हरिश्चन्द्र से कहा— स्वामी, ये ब्राह्मण पाचसौ मुद्राए देते हैं। यद्यपि ऋण चुकाने के लिए यह मुद्राए पर्याप्त नही हैं परन्तु आधा ऋण अवश्य चुक जाएगा। अब आप जैसी आज्ञा दें वैसा करू।

तारा की बात सुनकर विश्वामित्र ने विचारा कि इसको बिकवा-कर पाचसौ मुद्राए ले लेना ही ठीक है। जो शेष पाचसौ रहेगी, उनको भी अभी देने के लिए राजा से तकाजा करूगा। अब तो राजा के पास स्त्री भी नही है जो उसे बेचकर शेष ऋण चुका देगा। इस प्रकार वह कष्ट से घबराकर अपना अपराध स्वीकार कर लेगा, बस ! बात खत्म हो जाएगी। इसके सिवाय रानी के बिक जाने से जो अब तक इसे धैर्य देती रहती थी, फिर कोई धैर्य देने वाला भी न रहेगा। परिस्थिति के, स्त्री-वियोग के और मेरे ऋण के दु ख मे कातर होकर यह अवश्य ही अपना अपराध स्वीकार कर लेगा।

हरिश्चन्द्र तो दु ख के आवेग मे तारा की बात का कुछ भी उत्तर न दे सके, किन्तु इसी बीच विश्वामित्र बोल उठे कि उससे क्या पूछती है ? पाचसौ देता है तो पाचसौ दिलाओ, जिससे मुझे कुछ तो सतोष हो।

तारा का मूल्य सुनकर लोग भौंचक्के-से हो आपस में कहने लगे कि एक सहस्र स्वर्ण-मुद्राएं देकर ऐसी कोमलांगी दासी खरीदकर क्या करेंगे ? जो स्वयं इतनी कोमल है वह हमारा क्या काम कर सकेगी ?

उन लोगों में से कोई विश्वामित्र से कहने लगा कि तुम साधु हो तुम्हें धन की ऐसी क्या आवश्यकता है जो इसको बिकने के लिए विवश कर रहे हो ? कोई राजा के लिए ही कहता कि यह कैसा पुरुष है जो अपने सामने अपनी ही स्त्री को बिकते देखता है ? कोई तारा के बारे में ही कहने लगा कि यह स्वयं ही न मालूम कैसी स्त्री होगी जो इसका पति स्वयं अपनी उपस्थिति में इसे बिकने दे रहा है। इस प्रकार तीनों के लिए कटु शब्द कहकर सब लोग चले गए। किसी ने भी तारा को खरीदने का विचार नहीं किया।

जिस स्थान पर बिकने के लिए तारा खड़ी थी वहीं एक वृद्ध और अनुभवी ब्राह्मण खड़ा हुआ इन सब बातों को सुन रहा था। तारा की बातों और उनके लज्जाशिक गुणों से उसने अनुमान किया कि यह कोई विपद्ग्रस्त विदुषी महिला है जो अपने आपको बेच रही है। उसके लक्षणों से प्रगट है कि यह गुणवती और सच्चरित्रा है। वे लोग तो मूर्ख है जो एक सहस्र स्वर्ण-मुद्राओं को इसकी अपेक्षा अधिक समझते हैं।

ऐसा विचार कर वह वृद्ध ब्राह्मण तारा से कहने लगा— भद्रे ! तुम्हारे लक्षणों से यह तो प्रगट ही है कि तुम किसी कुलीन घर की महिला हो और विपत्ति की मारी अपने आपको बेचकर ऋणका ऋण चुका रही हो। लेकिन क्या इतना और बता सकती हो कि यह ऋण किस बात का देना है ?

तारा— दक्षिणा का।

ब्राह्मण— आपका नाम गोत्र आदि क्या है ?

तारा— इसके लिए तो मैं पहले ही कह चुकी हूं कि मैं दासी हूं और दासी का नाम गोत्र आदि क्या पूछना ?

ब्राह्मण— यद्यपि तुम्हारे सद्गुणो को देखकर एक सहस्र स्वर्ण-मुद्राए अधिक नही हैं, किन्तु मेरे पास केवल पाचसौ हैं। यदि तुम अपने बदले मे इतनी मुद्राए दिलाना स्वीकार करो, तो मैं देने को तैयार हू।

ब्राह्मण की बात सुनकर तारा विचारने लगी कि अब क्या करना चाहिए? देनी तो हैं एक सहस्र मुद्राए और ये ब्राह्मण पाचसौ ही देते हैं! प्रसन्नता की बात है कि जहा किसी ने मुझे एक पैसे मे भी नही खरीदना चाहा था, वहा इन्होने मेरी कीमत पाचसौ मुद्राए तो लगाई। यद्यपि इनसे सब ऋण तो नही चुकेगा, परन्तु आधी दक्षिणा मिल जाने से विश्वामित्र शात अवश्य हो जाएगे तथा शेष के लिए पति को कुछ और मियाद दे देंगे। जिसमे पति इनकी शेष मुद्राए भी चुका देंगे और कुछ ही दिनो मे मुझे भी छुडा लेंगे। अभी इनका भाग्य-सूर्य जो विपत्ति के बादलो मे छिपा है, वह सदा छिपा न रहेगा।

ऐसा विचार कर तारा ने हरिश्चन्द्र से कहा— स्वामी, ये ब्राह्मण पाचसौ मुद्राए देते हैं। यद्यपि ऋण चुकाने के लिए यह मुद्राए पर्याप्त नही हैं परन्तु आधा ऋण अवश्य चुक जाएगा। अब आप जैसी आज्ञा दें वैसा करू।

तारा की बात सुनकर विश्वामित्र ने विचारा कि इसको बिकवाकर पाचसौ मुद्राए ले लेना ही ठीक है। जो शेष पाचसौ रहेंगी, उनको भी अभी देने के लिए राजा से तकाजा करूगा। अब तो राजा के पास स्त्री भी नहीं है जो उसे बेचकर शेष ऋण चुका देगा। इस प्रकार वह कष्ट से घबराकर अपना अपराध स्वीकार कर लेगा, बस! बात खत्म हो जाएगी। इसके सिवाय रानी के बिक जाने से जो अब तक इसे धैर्य देती रहती थी, फिर कोई धैर्य देने वाला भी न रहेगा। परिस्थिति के, स्त्री-वियोग के और मेरे ऋण के दु ख मे कातर होकर यह अवश्य ही अपना अपराध स्वीकार कर लेगा।

हरिश्चन्द्र तो दु ख के आवेग मे तारा की बात का कुछ भी उत्तर न दे सके, किन्तु इसी बीच विश्वामित्र बोल उठे कि उससे क्या पूछती है? पाचसौ देता है तो पाचसौ दिलाओ, जिससे मुझे कुछ तो सतोष हो!

विश्वामित्र की इस बात ने हरिश्चन्द्र के दुःखित हृदय में तीर का काम किया। वे मन-ही-मन कहने लगे— हाय! ऋणी होना भी कितने दुःख की बात है। यदि आज मैं ऋणी न होता तो तारा के इस प्रकार बिकने और विश्वामित्र के वाग्बाण सहने की क्या आवश्यकता होती? संसार के वे लोग नितान्त अभागे और दुःखी हैं जिन पर दूसरे का ऋण है। लेकिन ऋण उनके लिए दुःखदाता है जो उसे चुकाना चाहते हैं और अपना सत्यपालन करना चाहते हैं। जो दूसरे का ऋण डुबाने वाला है, उसके लिए तो ऋण का होना और न होना दोनों बराबर हैं।

विश्वामित्र की बात सुनकर तारा पति से कहने लगी— नाथ! ऋषि को इतनी मुद्राएं मिल जाने से कुछ संतोष हो जाएगा इसलिए आप मुझे बिकने की आज्ञा दीजिए।

कुछ ही दिन पूर्व जो दानवीर महाराज हरिश्चन्द्र दूसरों को दासत्व से मुक्त करते थे जो मानव बिके दासों को दंड देते थे उनकी ही इस समय अपनी स्त्री को बिकते देख जो हृदय की दशा हुई होगी वह अवर्णनीय है।

रानी के बहुत समझाने-बुझाने पर भी राजा कुछ न बोल सके लेकिन सिर हिलाकर रानी को बिकने की स्वीकृति दे दी। रानी ने ब्राह्मण से कहा— महाराज लाइए पाँचसौ मुद्राएं ही दीजिए। ब्राह्मण से पाँच सौ मुद्राएं लेकर राजा ने विश्वामित्र को सौंप दीं। मुद्राएं देकर ब्राह्मण ने जैसे ही तारा से कहा— दासी चलो! वैसे ही हजारों सेविकाओं से सेवित रानी को दूसरे के घर दासी बनकर जाते देख हरिश्चन्द्र को वज्रपात सा दुःख हुआ और मूर्छित होकर गिर पड़े। उन्हें यह दुःख असह्य हो गया कि आज से रानी 'दासी' कही जाएगी। इस समय होने वाले उनके हार्दिक दुःख का केवल अनुमान ही किया जा सकता है।

पति को मूर्छित होकर गिरते देख रानी घबरा गई और मन में कहने लगी कि अब तक तो मैं इन्हें धैर्य बंधाती रहती थी इनके दुःख को किसी प्रकार कम करती रहती थी लेकिन अब इनकी क्या दशा होगी?

ये तो अभी से इस प्रकार अधीर हो उठे हैं, अब क्या करू ? पति को सात्वना देने के लिए ब्राह्मण से आज्ञा प्राप्त कर रानी ने हरिश्चन्द्र के मुख पर आचल से हवा की और उन्हें उठाकर बैठाया। हरिश्चन्द्र को कुछ सचेत देख रानी कहने लगी— नाथ, यह समय दुःख से मूर्छित होने का नही, किन्तु सत्यपालन का है। सूर्यास्त होना ही चाहता है और यदि उससे पहले विश्वामित्र की दी हुई अवधि मे ऋण न चुका तो आप सत्य से पतित हो जाएगे। सत्यपालन के समय मूर्छित होने से काम नही चल सकता, इसके लिए तो हृदय को वज्र-समान दृढ बनाना पडेगा। आप तो मेरे जाने से ही इस प्रकार दु खी हो रहे हैं और मैं भी इस समय आप ही की तरह दु खित हो जाऊ तो फिर सत्य का पालन कैसे हो सकेगा ? नाथ ! जिस सत्य के लिए आपने राज-पाठ छोडा, भूख-प्यास आदि के दु ख सहते हुए मजदूरी की, विश्वामित्र के मर्मभेदी वचन सुने और मैं दासीपने का काम करने के लिए बिकी, क्या उस सत्य को आप खोना चाहते हैं ? सत्य को जाने देना वीरोचित और क्षत्रियोचित कार्य नही है। इस समय तो आपको प्रसन्न होना चाहिए कि मुझे जिस ऋण की चिन्ता थी, जिस ऋण के कारण सत्य के चले जाने की नौबत आ गई थी, उसमे से आधा तो चुक गया है। आप किसी प्रकार की चिन्ता या दु ख न कीजिए और न मेरे लिए यह विचारिए कि जो रानी थी वह अब दासी हो गई है। मैं तो आज से नही, सदा से दासी हू। स्त्रिया जन्म से दासी होती हैं। जो स्त्री किसी की दासी न होकर स्वतत्र रहती है, वह पतित गिनी जाती है। इसके सिवाय मान भी लो कि मैं दासी बनी हू तो किसी अन्य कारण से नही, किन्तु सत्यपालन के लिए बनी हू। यह तो ब्राह्मण ने मुझे खरीदा है, लेकिन इस समय चाडाल भी मेरा मूल्य देता तो मैं प्रसन्नता पूर्वक उसकी भी दासी बनना स्वीकार कर लेती। अपने सत्य और धर्म की रक्षा करते हुए चाहे ब्राह्मण की दासी होऊ या चाडाल की, दोनो बराबर हैं। मुख्य कार्य तो सत्य को न जाने देना है। आप पुरुष हैं, क्षत्रिय हैं और सूर्यवश मे जन्म लिया है। इतने

कष्ट तो आपने सह लिए, अब थोड़े-से कष्ट से अधीर होकर सत्यपालन से वंचित रहना आपके लिए शोभा नहीं देता है। आप सत्य पर विश्वास और धैर्य रखिए और प्रसन्नता से मुझे आशीर्वाद देकर विदा कीजिए। मेरे भाग्य में यदि आपकी सेवा करना लिखा होगा तो पुनः मैं अवश्य ही आपके दर्शन करूँगी।

रानी के इन शब्दों को सुनकर राजा के शरीर में बिजली दौड़ गई। सत्य का स्मरण कर सब दुःख भूल गए और उठ खड़े हुए। रानी से कहने लगे— तारा! मेरे सत्य की रक्षा तुमने ही की है। यदि तुम न होतीं तो मैं कभी का सत्यभ्रष्ट हो गया होता। तुम जो कहा करती थीं कि आधा ऋण मुझ पर है और मैं आधा कष्ट बाँट लूँगी यह तुमने सत्य कर दिखाया है। अब शेष ऋण की कोई चिन्ता नहीं है तुमने ऋण चुकाने का मार्ग मुझे बता दिया है। अब मैं तुम्हें प्रसन्नता पूर्वक विदा करता हूँ और आशीर्वाद देता हूँ कि जिस सत्य के लिए तुमने इतने कष्ट सहे हैं वही तुम्हारी रक्षा करे।

तारा— नाथ आपको धन्य है। अब आप इस पुत्र को संभाल लिए। मैं बिकी हूँ यह नहीं बिका है।

पति के हाथ पुत्र को सौंप और प्रणाम कर जैसे ही रानी ने चलने को पैर बढ़ाया कि रोहित जो यह सब देख रहा था बोल उठा और माता से लिपटकर कहने लगा— माँ तुम मुझे छोड़कर कहाँ जाती हो? मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगा। मुझे छोड़कर मत जाओ मुझे मत छोड़ो, मैं तुम्हारा रोहित हूँ तुम्हारा बेटा!

इन शब्दों से माता के हृदय में क्या-क्या भाव उत्पन्न किए होंगे? यह सभी जानते हैं। तारा के मातृ-हृदय में भी वही भाव पैदा हुए लेकिन उन्होंने धैर्य धारण करते हुए कहा— बेटा मैं इन ब्राह्मण महाराज की सेवा करने जाती हूँ। तुम अपने पिताजी के पास रहकर उनकी

रोहित— मा, मैं पिताजी की सेवा करना नही जानता। मैं तो उन्हें प्रणाम करना जानता हू, सो प्रणाम किए लेता हू। मैं तो तुम्हारी सेवा करूगा और जब तुम पिताजी की सेवा करना सिखला दोगी, तब उनकी भी सेवा करूगा।

जब तारा ने देखा कि रोहित किसी भी प्रकार पति के पास न रहेगा और कदाचित् रह भी गया तो उन्हे इसके पालन-पोषण मे कष्ट होगा, तो ब्राह्मण से प्रार्थना कर कहने लगी कि महाराज यह बालक मुझे छोडता नही है। यदि आप आज्ञा दें तो इसे भी साथ ले लू।

ब्राह्मण— मैं घर मे अकेला नही हू, किन्तु पुत्र, पुत्रवधू आदि और भी हैं। मैंने तुम्हे उनसे पूछकर नही खरीदा है, इसलिए इसी बात की चिन्ता है कि वे लोग इस विषय मे मुझे न मालूम क्या कहे। अब यदि इसे और साथ ले लोगी तो इसके हठ करने, रोने आदि मे तुम्हारा बहुत-सा समय जाएगा, जिससे तुम काम नही कर सकोगी। इसके सिवाय मैं तुम्हें भी खाना दू और इसे भी, इस प्रकार दो मनुष्यो का भोजन-व्यय क्यो सहन करू ?

ब्राह्मण की अतिम बात सुनकर राजा मन ही-मन कहने लगे— सत्य तू अच्छी कसौटी कर रहा है। जिस बालक के सहारे से सैकडो लोग भोजन करते थे, आज उसी का भोजन भी भार हो रहा है।

ब्राह्मण की बात सुनकर रानी ने कहा— महाराज, यह बालक बडा विनीत है। हठ करना या रोना तो जानता ही नही। आप स्वय ही इसके लक्षणो से जान सकते हैं कि यह कैसा होनहार बालक है। इसके लिए मैं आपसे पृथक् भोजन न लूगी, आप मेरे लिए जो कुछ देंगे, उसी मे से खाकर यह भी आपका कुछ काम करता रहेगा। कृपा करके इसे भी साथ ले चलने की आज्ञा दीजिए।

ब्राह्मण ने देखा कि जब यह इसके लिए पृथक् से भोजन भी न लेगी, बल्कि यह लडका भी मेरा काम करेगा तो साथ ले चलने की कहने मे क्या हर्ज है ? ऐसा विचार करके ब्राह्मण ने रोहित को साथ ले चलने

कष्ट तो आपने सह लिए, अब थोड़े-से कष्ट से अधीर होकर सत्यपालन से वंचित रहना आपके लिए शोभा नहीं देता है। आप सत्य पर विश्वास और धैर्य रखिए और प्रसन्नता से मुझे आशीर्वाद देकर विदा कीजिए। मेरे भाग्य में यदि आपकी सेवा करना लिखा होगा तो पुन: मैं अवश्य ही आपके दर्शन करूँगी।

रानी के इन शब्दों को सुनकर राजा के शरीर में बिजली दौड़ गई। सत्य का स्मरण कर सब दु:ख भूल गए और उठ खड़े हुए। रानी से कहने लगे— तारा! मेरे सत्य की रक्षा तुमने ही की है। यदि तुम न होती तो मैं कभी का सत्यभ्रष्ट हो गया होता। तुम जो कहा करती थीं कि आधा ऋण मुझ पर है और मैं आधा कष्ट बाँट लूँगी वह तुमने सत्य कर दिखाया है। अब पंच ऋण की कोई चिन्ता नहीं है, तुमने ऋण चुकाने का मार्ग मुझे बता दिया है। अब मैं तुम्हें प्रसन्नता पूर्वक विदा करता हूँ और आशीर्वाद देता हूँ कि जिस सत्य के लिए तुमने इतने कष्ट सहे हैं, वही तुम्हारी रक्षा करे।

तारा— नाथ आपको धन्य है। अब आप इस पुत्र को संभालिए। मैं बिकी हूँ यह नहीं बिका है।

पति के हाथ पुत्र को सौंप और प्रणाम कर जैसे ही रानी ने चलने को पैर बढ़ाया कि रोहित जो यह सब देख रहा था चीख उठा और माता से लिपटकर कहने लगा— मा तुम मुझे छोड़कर कहाँ जाती हो? मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगा। मुझे छोड़कर मत जाओ मुझे मत छोड़ो मैं तुम्हारा रोहित हूँ तुम्हारा बेटा!

इन शब्दों ने माता के हृदय में क्या-क्या भाव उत्पन्न किए होंगे? यह सभी जानते हैं। तारा के मातृ-हृदय में भी वही भाव पैदा हुए लेकिन उन्होंने धैर्य धारण करते हुए कहा— बेटा मैं इन ब्राह्मण महाराज की सेवा करने जाती हूँ। तुम अपने पिताजी के पास रहकर उनकी सेवा करना।

और तू इस प्रकार के ढोंग दिखला रहा है। यदि स्त्री-पुरुष इतने प्रिय थे, यदि दक्षिणा नही दे सकता था तो फिर तूने किस बल पर हठ की थी? अब या तो मेरी शेष मुद्राए सूर्यास्त होने से पूर्व दे दे या हठ छोडकर अपराध स्वीकार कर ले। अपराध स्वीकार करने पर ये पाचसौ मुद्राए लौटा दूगा और शेष बची पाचसौ मुद्राए भी छोड दूगा व तुझे तेरा राज्य भी लौटा दूगा।

विश्वामित्र ने ये बातें कही तो थी किसी और अभिप्राय से कि राजा सत्य छोडना स्वीकार कर लेगा, लेकिन फल कुछ और ही हुआ। विश्वामित्र की इन बातो ने राजा को एक प्रकार की शक्ति प्रदान की। वे रानी की अतिम शिक्षा को याद करके खडे हो गए और विश्वामित्र से कहने लगे— आप और जो चाहे कटु वचन कहे लें, लेकिन सत्य छोडने का कदापि न कहें। क्योकि—

परित्यजेच्च त्रैलोक्य राज्य देवेषु वा पुन।
यद्वाप्यधिकमेतेभ्या न तु सत्य कथचन॥
त्यजेच्च पृथिवीं गन्धमापश्च रसमात्मन·।
ज्योतिस्तथा त्यजेद्रूप वायु स्पर्शगुण त्यजेत्॥
प्रभा समुत्सृजेदर्को धूमकेतुस्तथोष्मता।
त्यजेच्छब्द तथा काश सोम· शीताशुता त्यजेत्॥
विक्रम वृत्रहा जह्यात् धर्म जह्याच्च धर्मराट्।
नन्वह सत्यमुत्स्त्रष्टु व्यवसेय कथचन॥

त्रैलोक्य के राज्य पर लात मारना, स्वर्ग-साम्राज्य को परित्याग करना एव इनसे भी बढकर कोई वस्तु हो तो उसका भी परित्याग करना मुझे स्वीकार है, परन्तु सत्य से विलग होना मुझे कदापि स्वीकार नही हो सकता। पृथ्वी, जल, वायु, ज्योति, सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा ये सब अपने-अपने गुण और प्रकृति को चाहे छोड दें परन्तु मैं सत्य को किसी भी प्रकार न छोडूगा। चाहे इन्द्र अपने पराक्रम को छोड दे या धर्मराज धर्म का त्याग

की रानी को आज्ञा दे दी। ब्राह्मण की आज्ञा पाकर रानी पुत्र को लेकर ब्राह्मण के साथ चल दीं। राजा खड़े खड़े तब तक उनकी ओर देखते रहे जब तक वे आँखों से ओझल नहीं हो गए। लेकिन रानी ने मुड़कर इसलिए नहीं देखा कि मेरे देखने से राजा को अधिक दुःख होगा।

लेकिन जाते समय रानी ने मन-ही-मन यह अवश्य ही कहा कि हे संसार की स्त्रियो! मेरी दशा से तुम लोग कुछ शिक्षा ग्रहण करो। कुछ दिन पहले तक रानी कहलाने वाली मैंने पति के वचन की रक्षा के लिए ही राज-सुख त्यागकर कष्ट सहे हैं और अब दासीपना स्वीकार किया है। इतना ही नहीं यदि इससे भी विशेष कष्ट हों तो उन्हें भी सहन करूंगी। आज यदि मैं राज-सुख के कारण गृहस्थी के कामों को न जानती होती या जानकर भी करने में लज्जा या आलस्य करती तो अपने पति की सहायता कभी नहीं कर पाती। आप भी धन-वैभव के मद में स्त्रियो-चित कामों में कभी लज्जा या आलस्य न करें। अन्यथा जीवन तो कष्ट मय होगा ही लेकिन आप स्वयं सत्य का भी पालन नहीं कर सकेंगी। इसके सिवाय पति के सत्य की रक्षा के लिए अपने प्राण तक देने में संकोच न करें। यदि आप इस बात का ध्यान रखेंगी तो अपने धर्म का भी पालन करेंगी और संसार में अक्षय कीर्ति भी प्राप्त करेंगी।

यद्यपि रानी ने राजा को काफी धैर्य दिलाया था लेकिन रानी के आँखों से ओझल होते ही उनका धैर्य छूट गया और रानी के दासी बनने के दुःख से कातर बन मूर्छित होकर गिर पड़े। पुत्र का वियोग भी उन्हें असह्य हो उठा।

विश्वामित्र ने राजा की इस स्थिति से लाभ उठाना चाहा। उनका अनुमान था कि इस समय यदि मैं राजा से ऋण का तकाजा करके कुछ कटुवचन कहूंगा और दूसरी ओर अपराध स्वीकार करने के लाभ का लोभ दूंगा तो संभव है कि यह अपना अपराध स्वीकार कर लें। ऐसा विचार कर विश्वामित्र अपने वाग्बाण द्वारा हरिश्चन्द्र के दुःखित हृदय को और भी छेदने लगे कि अरे निर्लज्ज! सूर्य तो अस्त होना चाहता है

रानी के विकते समय भी कुछ नही बोल सका था और इसी विचार से अभी भी चुप खडा था।

लोगो के इस प्रकार चुपचाप विना मूल्य लगाए चले जाने से राजा को वडी निराशा हुई और सोचने लगे कि क्या आज सूर्यास्त से पहले मैं ऋण न चुका सकूगा ? यदि ऐसा हुआ तो मुझे अपने कलक को धोने के लिए कही भी स्थान नही मिलेगा।

भगी खडा-खडा उन लोगो की मूर्खता को धिक्कार रहा था जो मूल्य अधिक वताकर चले गए थे। वह इस वात का निश्चय नही कर सका कि यह दास मेरे साथ चलेगा या नही ? चले, या न चले, फिर भी मैं तो अपनी ओर से पूछ ही लू। ऐसा निश्चय कर भगी राजा के पास आकर कहने लगा— महाशय, मैं भगी हू। मेरे यहा श्मशान की रखवाली का काम है। यदि आप मेरे यहा चलना स्वीकार करें तो मैं आपको खरीद सकता हू।

भगी की वात सुनकर राजा को रानी की जाते समय कही गई वातो का स्मरण हो आया। राजा मन मे कहने लगे कि रानी मुझसे कहती ही थी कि यदि मुझे भगी खरीदता तो मैं उसके यहा भी चली जाती। जव वह भगी का दासत्व स्वीकार करने को तैयार थी तो फिर मुझे भगी का दासत्व स्वीकार करने मे क्या हर्ज है ? मैं तो सत्य के हाथ विक रहा हू, न कि भगी के हाथ।

इस प्रकार का विचार कर राजा ने भगी से कहा कि मुझे आपका दासत्व स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नही है। आप जो आज्ञा देंगे, उसका मैं पालन करूगा। आप मुझे खरीद लीजिए और मेरा मूल्य इन ऋषि को चुका दीजिए।

राजा को भगी के हाथ विकने को तैयार देख विश्वामित्र के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। मूल्य न लगने से विश्वामित्र मन-ही-मन प्रसन्न हो रहे थे कि अव सूर्यास्त में थोडा समय वाकी है अत विवश होकर राजा अपना अपराध स्वीकार कर लेगा। लेकिन जव राजा भगी

कर दें लेकिन मैं सत्य छोड़ने का प्रयत्न किसी भी प्रकार नहीं कर सकूंगा। इसको आप ध्यान में रखें।

महाराज ! जिस सत्य के लिए मैंने राज्य देने में भी संकोच नहीं किया जिस सत्य के लिए स्त्री पुत्र सहित मैंने वन के कष्ट सहे जिस सत्य के लिए मैं मजदूर और रानी मजदूरनी बनी जिस सत्य के लिए मेरी स्त्री बाजार में दासी बनकर बिकी तो क्या अब मैं पांचसौ मुद्राओं के ऋण से डरकर उस सत्य को छोड़ दूंगा ? इतने कष्ट तो सह लिए और अब जरा-से कष्ट के लिए क्या मैं अपना सत्य छोड़ सकता हूं ? ऋषिजी आप ठहरिए! मैं सूर्यास्त के पहले ही ऋण चुका दूंगा।

इस प्रकार विश्वामित्र को उत्तर देकर महाराज हरिश्चन्द्र रानी के छोड़े हुए घास को अपने सिर पर रखकर अपने बिकने के लिए भी आवाज देने लगे।

राजा को बिकते देख पुनः लोगों के मन में वैसा ही आश्चर्य पैदा हुआ जैसा रानी के बिकते समय हुआ था। इन लोगों ने रानी से किये गए प्रश्नों की तरह राजा से भी कुल जाति आदि के बारे में प्रश्न किए, लेकिन राजा ने वैसे ही उत्तर दिए जैसे रानी ने बिकते समय दिए थे कि मेरी जात-पांत निवास-स्थान आदि का क्या पूछना ? हां यह अवश्य बतलाए देता हूं कि संसार में पुरुषोचित जितने भी कार्य हैं मैं उन सबको कर सकता हू।

यद्यपि राजा ने सब काम जानना करना स्वीकार किया था लेकिन पांचसौ मुद्राएं देकर उन्हें खरीदना किसी को भी उचित प्रतीत नहीं हुआ। सब लोग मूल्य अधिक बताकर मुंह बिचकाते हुए चल दिए।

उसी बाजार के एक कोने में खड़ा-खड़ा एक भंगी यह सब हाल देख रहा था। यह रानी को बिकते देख चुका था और राजा व विश्वामित्र की आपस में होने वाली बातचीत को भी सुन चुका था। यह मन ही-मन विचारने लगा कि कैसे अच्छे दास-दासी बिक रहे हैं, परन्तु ये लोग मेरे यहां चलना क्यों कर स्वीकार करेंगे ? इसी विचार से यह

हरिश्चन्द्र ने कहा— बस इतनी ही।

विश्वामित्र जब मुद्राए ले चुके तब राजा ने हाथ जोडकर कहा— महाराज, अब तो मैं आपके ऋण से मुक्त हो गया हू, अब कृपा करके आशीर्वाद दीजिए। मैं आपसे यही आशीर्वाद चाहता हू कि अवध की प्रजा को कष्ट न हो।

विश्वामित्र राज्य लेने के समय से ही हरिश्चन्द्र पर ऊपरी तौर पर तो क्रोध प्रगट कर रहे थे लेकिन अतरग मे प्रशसा करते हुए धन्यवाद देते थे। हरिश्चन्द्र की इस बात ने तो उनके हृदय को और भी नम्र बना दिया। वे मन मे कहने लगे— हरिश्चन्द्र, तुझे धन्य है ! तूने भगी का दासत्व स्वीकार किया, लेकिन सत्य से नही डिगा। तुझे जितना भी धन्यवाद दिया जाए, उतना ही कम है।

विश्वामित्र का ऋण चुक जाने पर राजा की प्रसन्नता का पारावार न रहा। उन्होने परमात्मा का स्मरण करते हुए कहा कि आज भी मैं तेरे प्रभाव से सत्य का पालन करने मे समर्थ हो सका।

हरिश्चन्द्र के ऋण-मुक्त होते ही सूर्य अस्त हो गया। सध्या की लालिमा चारो ओर इस तरह फैल गई मानो राजा हरिश्चन्द्र की दानवीरता दिग्दिगन्त तक व्याप्त हो गई हो। इसी समय पश्चात्ताप करते हुए विश्वामित्र एक ओर चले गए और प्रसन्न मन से महाराज हरिश्चन्द्र अपने मालिक भगी के साथ उसके घर की ओर चल दिए।

का भी प्रयत्न करने पर उदार हो गए तो विश्वामित्र की यह आशा भी मिट्टी में मिल गई। अतः उन्होंने एक बार और प्रयत्न करना चाहा और राजा से कहने लगे— क्या भंगी के हाथ बिकेगा?

राजा— मुझे यह नहीं देखना है कि किसके हाथ बिक रहा हूं यदि कुछ देखना ही है तो यह कि मैं आपके ऋण से मुक्त हो रहा हूं। इसके सिवाय—

विद्या विनय संपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता' समदर्शिन' ॥

जो पण्डित ज्ञानी ध्यानी हैं उनकी दृष्टि विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण गाय हाथी कुत्ते और चांडाल पर एक-सी रहती है। अतएव ब्राह्मण हो या चांडाल सत्य पालन में मेरे लिए दोनों ही बराबर हैं।

विश्वामित्र— देख हरिश्चन्द्र अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा है, अब भी समझ जा और अपनी हठ छोड़कर अपराध स्वीकार कर ले तो इन सब विपत्तियों से भी छुटकारा पा जाएगा और तेरा राज्य भी तुझे वापस मिल जाएगा।

राजा— महाराज कुछ बिगड़ने-न-बिगड़ने के लिए तो क्षमा कीजिए। आप जैसों की कृपा से ही सत्य-पालन का यह स्वर्ण-अवसर मुझे प्राप्त हुआ है और ऐसे अवसर को खोने की मूर्खता मुझसे कभी नहीं हो सकेगी।

राजा के उत्तर को सुनकर विश्वामित्र क्रोध करते हुए बोले— अच्छा ला मुद्राएं। अभी नहीं लेकिन आगे चलकर मालूम पड़ेगा कि हठ का परिणाम कितना भयंकर होता है।

विश्वामित्र और हरिश्चन्द्र की बात-चीत से भंगी समझ गया कि यह दास कोई कुलीन पुरुष है, लेकिन किसी कारण-विशेष से अपने आपको बेच रहा है। विश्वामित्र के 'ला' कहते ही भंगी भी आवेश में आ गया और पांचसौ स्वर्ण-मुद्राएं देकर राजा से पूछा— क्या और दूं? यदि और भी देना हो तो अधिक भी देने को तैयार हूं।

हरिश्चन्द्र ने कहा— बस इतनी ही।

विश्वामित्र जब मुद्राए ले चुके तब राजा ने हाथ जोडकर कहा— महाराज, अब तो मैं आपके ऋण से मुक्त हो गया हू, अब कृपा करके आशीर्वाद दीजिए। मैं आपसे यही आशीर्वाद चाहता हू कि अवध की प्रजा को कष्ट न हो।

विश्वामित्र राज्य लेने के समय से ही हरिश्चन्द्र पर ऊपरी तौर पर तो क्रोध प्रगट कर रहे थे लेकिन अतरग मे प्रशसा करते हुए धन्यवाद देते थे। हरिश्चन्द्र की इस बात ने तो उनके हृदय को और भी नम्र बना दिया। वे मन मे कहने लगे— हरिश्चन्द्र, तुझे धन्य है ! तूने भगी का दासत्व स्वीकार किया, लेकिन सत्य से नही डिगा। तुझे जितना भी धन्यवाद दिया जाए, उतना ही कम है।

विश्वामित्र का ऋण चुक जाने पर राजा की प्रसन्नता का पारावार न रहा। उन्होंने परमात्मा का स्मरण करते हुए कहा कि आज भी मैं तेरे प्रभाव से सत्य का पालन करने मे समर्थ हो सका।

हरिश्चन्द्र के ऋण-मुक्त होते ही सूर्य अस्त हो गया। सध्या की लालिमा चारो ओर इस तरह फैल गई मानो राजा हरिश्चन्द्र की दानवीरता दिग्दिगन्त तक व्याप्त हो गई हो। इसी समय पश्चात्ताप करते हुए विश्वामित्र एक ओर चले गए और प्रसन्न मन से महाराज हरिश्चन्द्र अपने मालिक भगी के साथ उसके घर की ओर चल दिए।

२० ब्राह्मण के घर में तारा

संसार में जितने भी अच्छे कार्य हैं, चाहे वे कष्ट-साध्य हों लेकिन उनका फल अच्छा ही होता है। शुभ कार्य के करने में होने वाले कष्ट कष्ट नहीं वरन सफल होने की तपस्या है। यदि तप करने दान देने सत्य पालने आदि में कष्टों का भय किया जाए तो इन कार्यों को करने वाला कभी भी नहीं करेगा। यदि कोई कहे कि कष्ट पाप से होते हैं, धर्म से नहीं अतः जिन कार्यों से कष्ट हो वे पाप हैं, तो समझना चाहिए कि ऐसा कहने वाले लोग नितांत अनभिज्ञ हैं। यदि सत्कार्य बिना कष्ट के ही सफल होते हों तो फिर ऐसा कौन मूर्ख होगा जो सरलता से होने वाले सत्कार्यों को छोड़कर कष्ट सहने के लिए पाप करेगा? कौन ऐसा होगा जो सुख के कारण अच्छे कार्यों को न करके बुरे कार्यों को करेगा? इसके सिवाय यदि कष्ट होने से सत्कार्य पाप कहे जाएँगे तो उन कार्यों को धर्म मानना पड़ेगा जिनमें कष्ट नहीं अपितु सुख होता है। लेकिन यह बात नहीं है। संसार में बुरे कार्य भी सुख की आशा से किए जाते हैं और लोग उनमें भी सुख मानते हैं। जैसे व्यभिचार करना चोरी करना आदि दुष्कार्यों को सभी बुरा कहते हैं लेकिन उनको करने वाले उनमें भी सुख मानते हैं। संसार में प्रत्येक प्राणी जो कुछ भी करता है सुख के लिए ही करता है। यह बात दूसरी है कि वह समझवश दुःख के कारण को सुख और सुख के कारण को दुःख मानता हो। जैसे— रोगी योग में सुख मानते हैं और भोगी भोग में। जिन कार्यों में करने वाला अपने आपको सुखी मानता हो वे काम न तो नितांत अच्छे ही हो सकते हैं और न नितांत बुरे ही। इसी प्रकार जिन कार्यों को करते समय कर्ता को दुःख होता है वे काम भी न तो नितांत बुरे ही हो सकते हैं और न नितांत अच्छे ही।

कार्य की अच्छाई या बुराई उसके फल पर निर्भर है। जैसे दुराचार करते समय उसका कर्ता उसमे सुख मानता है लेकिन उसका फल इस लोक मे ही शरीर की दुर्बलता, हृदय की मलीनता आदि रूप मे प्राप्त होता है और परलोक मे भी वह दड पाता है। इसी प्रकार योग-साधना मे साधना के समय तो कष्ट होता है लेकिन उसका फल इस लोक और परलोक दोनो ही जगह लाभप्रद है। तात्पर्य यह है कि कार्य के करते समय होने वाले सुख-दु ख से यह नही कहा जा सकता है कि यह कार्य धर्म है या पाप, किन्तु उसके फल दु ख-सुख पर से इस बात का निर्णय हो सकता है।

हरिश्चन्द्र और तारा ने जो कुछ किया वह सुख की अभिलाषा से किया। यद्यपि इस समय उनको कष्ट अवश्य हो रहा था लेकिन अतिम फल सुख ही था। ये कष्ट तो सत्य पालन मे काटे सरीखे थे जो गुलाब का फूल प्राप्त करते समय हाथो मे लगा करते हैं। यह किसी प्रकार उचित नही माना जा सकता है कि कोई मनुष्य काटे लगने के कारण ही सुगन्ध और कोमलता गुण वाले गुलाब के फूल को दुर्गन्धयुक्त और कठोर कहे। इसी प्रकार कष्ट होने के कारण परिणाम मे अच्छे फल देने वाले सत्य-दान और पति सेवा को भी पाप कैसे कहा जा सकता है? यदि पाप भी हो तो हरिश्चन्द्र को पुन राज्य-प्राप्ति और इन्द्रादि देवो के प्रार्थना व प्रशसा करने आदि के सुख किस धर्म के फल कहे जाएगे? इससे स्पष्ट है कि सत्कार्य चाहे कष्ट-साध्य हो लेकिन उनका फल सुखप्रद है, अत सत्काय धर्म हैं और दुष्कार्यों के करने मे चाहे सुख मिलता हो लेकिन उनका फल दु खप्रद है, अत. वे पाप हैं।

हरिश्चन्द्र और तारा इसी सत्य रूपी गुलाब के लिए ही दु ख रूपी काटो को सह रहे थे। इसी के लिए उन्होंने सहर्ष राज्य त्याग दिया और मजदूरी करने मे भी उन्हें कुछ लज्जा नही हुई। उनका ध्येय तो सत्य पालन था और उसमे होने वाले प्रत्येक कष्ट को सहने के लिए वे तैयार थे।

२० भामण्ड के घर में तारा

संसार में जितने भी अच्छे कार्य हैं, चाहे वे कष्ट-साध्य हों लेकिन उनका फल अच्छा ही होता है। शुभ कार्य के करने में होने वाले कष्ट कष्ट नहीं वरन सफल होने की तपस्या है। यदि तप करने दान देने सत्य पालने आदि में कष्टों का भय किया जाए तो इन कार्यों को करने वाला कभी भी नहीं करेगा। यदि कोई कहे कि कष्ट पाप से होते हैं, धर्म से नहीं अतः जिन कार्यों से कष्ट हो वे पाप हैं, तो समझना चाहिए कि ऐसा कहने वाले लोग नितांत अनभिज्ञ हैं। यदि सत्कार्य बिना कष्ट के ही सफल होते हों तो फिर ऐसा कौन मूर्ख होगा जो सरलता से होने वाले सत्कार्यों को छोड़कर कष्ट सहने के लिए पाप करेगा? कौन ऐसा होगा जो सुख के कारण अच्छे कार्यों को न करके बुरे कार्यों को करेगा? इसके सिवाय यदि कष्ट होने से सत्कार्य पाप कहे जाएंगे तो उन कार्यों को धर्म मानना पड़ेगा जिनमें कष्ट नहीं अपितु सुख होता है। लेकिन यह बात नहीं है। संसार में बुरे कार्य भी सुख की आशा से किए जाते हैं और लोग उनमें भी सुख मानते हैं। जैसे व्यभिचार करना चोरी करना आदि दुष्कार्मों को सभी बुरा कहते हैं लेकिन उनको करने वाले उनमें भी सुख मानते हैं। संसार में प्रत्येक प्राणी जो कुछ भी करता है सुख के लिए ही करता है। यह बात दूसरी है कि वह भ्रमवश दुःख के कारण को सुख और सुख के कारण को दुःख मानता हो। जैसे— भोगी भोग में सुख मानते हैं और योगी योग में। जिन कार्यों में करने वाला अपने आपको सुखी मानता हो वे काम न तो नितांत अच्छे ही हो सकते हैं और न नितांत बुरे ही। इसी प्रकार जिन कार्यों को करते समय कर्ता को दुःख होता है वे काम भी न तो नितांत बुरे ही हो सकते हैं और न नितांत अच्छे ही।

कार्य की अच्छाई या बुराई उसके फल पर निर्भर है। जैसे दुराचार करते समय उसका कर्ता उसमें सुख मानता है लेकिन उसका फल इस लोक मे ही शरीर की दुर्बलता, हृदय की मलीनता आदि रूप मे प्राप्त होता है और परलोक मे भी वह दड पाता है। इसी प्रकार योग-साधना मे साधना के समय तो कष्ट होता है लेकिन उसका फल इस लोक और परलोक दोनो ही जगह लाभप्रद है। तात्पर्य यह है कि कार्य के करते समय होने वाले सुख-दु ख से यह नही कहा जा सकता है कि यह कार्य धर्म है या पाप, किन्तु उसके फल दु ख-सुख पर से इस बात का निर्णय हो सकता है।

हरिश्चन्द्र और तारा ने जो कुछ किया वह सुख की अभिलाषा से किया। यद्यपि इस समय उनको कष्ट अवश्य हो रहा था लेकिन अतिम फल सुख ही था। ये कष्ट तो सत्य पालन मे काटे सरीखे थे जो गुलाब का फूल प्राप्त करते समय हाथो मे लगा करते हैं। यह किसी प्रकार उचित नही माना जा सकता है कि कोई मनुष्य काटे लगने के कारण ही सुगन्ध और कोमलता गुण वाले गुलाब के फूल को दुर्गन्धयुक्त और कठोर कहे। इसी प्रकार कष्ट होने के कारण परिणाम मे अच्छे फल देने वाले सत्य दान और पति सेवा को भी पाप कैसे कहा जा सकता है? यदि पाप भी हो तो हरिश्चन्द्र को पुन राज्य-प्राप्ति और इन्द्रादि देवो के प्रार्थना व प्रशसा करने आदि के सुख किस धर्म के फल कहे जाएगे? इससे स्पष्ट है कि सत्कार्य चाहे कष्ट-साध्य हों लेकिन उनका फल सुखप्रद है, अत सत्काय धर्म हैं और दुष्कार्यों के करने मे चाहे सुख मिलता हो लेकिन उनका फल दु खप्रद है, अत: वे पाप हैं।

हरिश्चन्द्र और तारा इसी सत्य रूपी गुलाव के लिए ही दु ख रूपी काटो को सह रहे थे। इसी के लिए उन्होने सहर्ष राज्य त्याग दिया और मजदूरी करने मे भी उन्हें कुछ लज्जा नही हुई। उनका ध्येय तो सत्य पालन था और उसमे होने वाले प्रत्येक कष्ट को सहने के लिए वे तैयार थे।

रोहित को लिए हुए तारा ब्राह्मण के घर आई । ब्राह्मण ने अपनी पत्नी पुत्रवधू आदि को तारा को बतलाते हुए कहा कि मैं यह दासी लाया हूं ।

तारा के सौन्दर्य को देखकर ब्राह्मण के घर की स्त्रियां आश्चर्य में पड़ गईं कि जिसकी आकृति ही बड़प्पन की सूचक है, यह दासी कैसे हुई ? इसके बारे में उन्होंने ब्राह्मण से पूछा भी तो उसने उत्तर दिया कि मैं स्वयं भी इस बात को नहीं जानता । तुम्हारे जैसे विचार मेरे मन में भी उठे थे और मैंने इससे पूछा भी था लेकिन इसने अपना परिचय नहीं दिया । परिचय दे या न दे लेकिन आकृति से यह अपने घर के उपयुक्त जान पड़ी अतः मैं इसे ले आया हूं । इसके लक्षणों से जान पड़ता है कि यह है तो गुणवती । इससे गृह-कार्य कराकर देखना कि यह विश्वास करने योग्य है या नहीं ।

ब्राह्मण ने तारा को रहने के लिए एक छोटी-सी कोठरी और बिछाने के लिए एक चटाई दे दी । घर पहुंचते-पहुंचते रात हो चुकी थी इसलिए उस रात तो तारा से कुछ काम नहीं लिया गया और विश्राम करने की आज्ञा दे दी ।

तारा ने कोठरी को झाड़-बुहार कर चटाई पर रोहित को सुला दिया और स्वयं भी पति-वियोग और उनके कष्टों की चिन्ता करते हुए पड़ रहीं । वे विचार करने लगीं कि धर्मशाला में भी ऐसी ही कोठरी थी । वहां पर तो जमीन पर ही सोती थी लेकिन यहां चटाई तो है । रोहित भी मेरे पास ही है । सूर्य भी वही है चन्द्र भी वही है यह, नक्षत्र तारे आकाश पृथ्वी आदि भी वही हैं और मैं भी वही हूं परन्तु बिना पति के ये सब अच्छे नहीं लगते हैं । मैं तो अपने ऋण से मुक्त होकर चली आई लेकिन वहां स्वामी पर न मालूम क्या कैसी बीत रही होगी ।

इस प्रकार सोचते-विचारते रानी चिन्ता में डूब गई । लेकिन थोड़ी देर बाद उन्हें ध्यान आया कि पति को तो मैं शिक्षा देती थी और अब स्वयं ही घबराने लगी हूं । जिस सत्य का प्रभाव बतलाकर स्वामी

को धैर्य बधाती थी, वही सत्य अब भी उनकी सहायता करेगा। इसके सिवाय इस समय मेरे चिन्ता करने से कुछ भी लाभ होने वाला नही है। चिन्ता करने से शरीर और बल क्षीण होगा एव खरीददार को मैंने जिन कार्यों के करने का विश्वास दिलाया है, उनको भी नही कर सकूगी। ऐसा होने पर मैं उस सत्य से भ्रष्ट हो जाऊगी, जिसके लिए इतने कष्ट सहे हैं।

इस प्रकार हृदय में धैर्य धारण कर तारा सो गई और नियमानुसार थोडी-सी नीद लेकर सूर्योदय से पहले ही उठ बैठी एव परमात्मा का नाम-स्मरण, प्रार्थना आदि करके ब्राह्मण के घर पहुची। उस समय वहा सभी लोग सो रहे थे। तारा के आवाज देने पर घर का दरवाजा खुला। तारा को सामने खडी देखकर वे लोग आश्चर्य से कहने लगे कि दासी तू अभी से आ गई। अभी तो सवेरा भी नही हुआ। तू इतनी जल्दी उठती है।

तारा— मैं दासी हू और मेरा कर्तव्य है कि मालिक के उठने से पहले उन कार्यों को कर डालू जो पहले ही हो जाना चाहिए। आपकी बराबरी करके यदि मैं भी देर तक सोती रहू तो काम कैसे चले ?

सबसे पहले तारा ने घर, पशुशाला आदि को झाडकर साफ कर डाला। पश्चात् रात का शेष पानी छानकर पानी लाई और बर्तन माजकर भोजन बनाने लगी। भोजन कर घर के सब लोग बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे कि यह दासी क्या, घर मे एक लक्ष्मी आई है। घर के सब काम इसने किस चतुराई से किए हैं और भोजन भी ऐसा अच्छा बनाया है कि आज जो स्वाद आया वह पहले कभी नही आया था।

रसोई आदि के कार्यों से निवृत्त होकर तथा स्वय भी खा-पीकर तारा घर की स्त्रियो को शिक्षाप्रद बातें, गीत आदि सुनाने लगी। जिन्हें सुनकर वे स्त्रिया और भी प्रसन्न हुई एव उसकी प्रशसा करने लगी।

तारा घर-गृहस्थी के सब कार्य बडी दक्षता और स्वच्छता से करतीं। गाय आदि से भी वे ऐसा प्रेम और उनकी ऐसा व्यवस्था

करती कि वे दूध भी अधिक देने लगीं। इस प्रकार अपनी सरलता से तारा ने घर के सब लोगों की सहानुभूति प्राप्त कर ली।

ब्राह्मण का युवा पुत्र तारा के सौन्दर्य और चतुराई पर मुग्ध हो गया। वह विचारने लगा कि यह दासी बिना शृंगार के ही इतनी सुन्दर मालूम पड़ती है तो शृंगार करने पर न मालूम कितनी सुन्दर लगेगी। अतः यह स्त्री-रत्न तो प्राप्त होना चाहिए, इसी में बुद्धिमानी है।

ब्राह्मण पुत्र के हृदय में तारा को अपनी प्रेयसी बनाने की अभिलाषा दिनोंदिन बढ़ने लगी और किसी-न-किसी बहाने तारा से बात करने के मौके की तलाश में रहने लगा। तारा उसकी हरकतें ताड़ गई और उससे बचकर रहने लगी। ब्राह्मण पुत्र ने जब देखा कि यह दासी मेरी ओर देखती ही नहीं है तो वह प्रलोभनों द्वारा तारा को अपने वश में करने के प्रपंच रचने लगा।

संसार में जो मनुष्य निर्लोभी है, उसको कोई अपने धर्म और कर्तव्य से विमुख नहीं कर सकता है। लोभ के कारण ही लोग धर्म से पतित हो जाते हैं लेकिन जिस तारा ने धर्म के लिए राज-सुख और पति-सुख का भी लोभ नहीं किया वे इन थोड़े से प्रलोभनों में कैसे फंस सकती थी? लोभ को तो उन्होंने पहले ही जीत लिया था और इसी से वे अपने पति के सत्य की रक्षा और अपने कर्तव्य के पालन करने में समर्थ हो सकी थी।

एक दिन तारा को अच्छी-सी साड़ी देते हुए ब्राह्मण पुत्र कहने लगा कि तुम इस साड़ी को पहना करो ये मोटे कपड़े तुम्हारे शरीर पर शोभा नहीं देते। तारा तो पहले ही उस धूर्त-लंपट की दृष्टि को ताड़ चुकी थी अतः साड़ी को न छूते हुए उत्तर दिया कि आप यह साड़ी मालकिन को दीजिए। दासी को महीन और अच्छे कपड़े पहनना उचित नहीं है। इनसे आलस्य पैदा होता है और आलस्य से मालिक के कार्य में बाधा पड़ती है। हमें तो मोटा कपड़ा पहनना ही उचित है।

तारा के उत्तर मे ब्राह्मण पुत्र को कुछ निराशा हुई और विचारने लगा कि मैंने तो सोच था कि स्त्री-स्वभावानुसार साडी देखते ही यह दासी ललचा उठेगी लेकिन इसने तो साडी को ही ठुकरा दिया है।

ब्राह्मण-पुत्र निराश होकर भी अभिलाषा-पूर्ति के उद्योग मे लगा रहा। वह कभी-कभी तारा या रोहित को अच्छे-अच्छे पकवान और रुपए-भी पैसे देने लगता, परन्तु उन्हें न तो तारा लेती और न ही रोहित। तारा तो कह देती कि हमे मोटा अनाज खाना ही उचित है, पकवान तो आप लोग खाइए और जब आप मुझे भोजन और कपडे देते ही हैं तो रुपए-पैसे लेने की क्या आवश्यकता है? रोहित भी ऐसा ही उत्तर दे देता कि मेरा भोजन माता के भोजन से अलग नही है, तो रुपए-पैसे कैसे ले सकता हू?

प्रलोभनों द्वारा तारा को अपने वश मे करने के उपाय मे भी जब ब्राह्मण पुत्र असफल रहा तो उसने धर्म का सहारा लिया। वह एकान्त स्थान मे पुस्तकें खोलकर बैठ जाता और तारा से कहता कि आओ दासी तुम्हे धर्म सुनाऊ।

दुष्टजन धर्म को भी दुराचार की ढाल बनाते हैं। ऐसी अनेक घटनाए आज भी सुनने मे आती हैं जिनमे धर्म के नाम पर या धर्म की ओट मे दुराचार किया गया हो। भोले-भाले लोग धर्म वेशधारी लोगो पर विश्वास करके उनके धोखे मे आ जाते हैं, लेकिन केवल वेश पर विश्वास कर लेना बुद्धिमानी नहीं है। महाकवि तुलसीदास ने कहा है—

तुलसी देखि सुवेश, भूलहिं मूढ न चतुर नर।
सुन्दर केका पेख, वचन अमियसम अशन अहि॥

केवल अच्छे वेश को देखकर मूढ लोग धोखा खाते हैं, चतुर नही। अच्छे वेशधारियों मे भी क्या दुर्गुण हो सकते हैं, इसके लिए मोर को देखो। देखने मे मोर कैसा सुन्दर होता है, उसकी वाणी भी अमृत के समान होती है किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी वह ऐसे कठोर हृदय वाला है

कि जीवित सर्प को भी निगल जाता है। सारांश यह कि धर्म-वेषधारी का भी बिना परीक्षा किए एकाएक अविचारपूर्वक विश्वास कर लेने से धोखा होने की संभावना रहती है। कभी-कभी ऐसे धोखे में पड़कर मनुष्य धर्मभ्रष्ट भी हो जाता है।

यद्यपि ब्राह्मण पुत्र तारा को धर्म-कथा सुनने के लिए बुलाता, लेकिन वे कह देतीं कि धर्म सुनने की आवश्यकता उसको है जो धर्म न जानता हो। मेरा धर्म तो आप लोगों की सेवा करना है और उसे मैं समझती हूं और करती हूं। मुझे धर्म सुनने की आवश्यकता नहीं है और न मेरे पास इतना समय ही है कि मैं आपका धर्म सुन सकूं।

जब इस उपाय से भी ब्राह्मण पुत्र तारा को अपनी ओर आकर्षित न कर सका तो वह और दूसरे उपाय सोचने लगा। उसने विचारा कि स्त्री का प्रेम पुत्र पर अधिक रहता है। पुत्र के होते हुए वह किसी भी बात की अपेक्षा नहीं करती। इस दासी की भी यही दशा है। इसका भी प्रेम पुत्र ही है। मेरे से प्रेम होने देने में यह पुत्र ही बाधक है। किसी प्रकार यह दूर हो जाए तो मैं अपने कार्य में सफल हो सकूंगा।

अपने मनोरथ में बाधक समझकर ब्राह्मण पुत्र रोहित को कष्ट देने लगा। वह कभी तो रोहित को ऐसे-ऐसे काम करने के लिए कहता कि जिन्हें कर सकना उसकी शक्ति से बाहर की बात होती थी। कभी किसी बहाने उसे इधर-उधर भटकाता तो कभी धमकाता और कभी मारता। रोहित तेजस्वी होनहार बालक था और सब परिस्थिति को समझने लगा था। अतः वह अत्याचारों को चुपचाप सह लेता लेकिन यह सब देखकर तारा को दुःख होता था।

एक दिन तारा ने ब्राह्मण पुत्र से नम्रतापूर्वक प्रार्थना की कि रोहित अभी बालक है। आप उससे जो काम करने को कहते हैं उनको करने में वह असमर्थ है। इसके सिवाय आपके यहां काम करने में आई हूं यह बालक मेरे ही भोजन में से भोजन करता है और इसके लिए आपसे अलग भोजन नहीं लेती हूं। ऐसी अवस्था में आपको इसे कष्ट

देना उचित नही है। यह बात दूसरी है कि रोहित अपनी इच्छा से कोई काम करे, लेकिन आपका इस प्रकार उस पर अत्याचार करना न्यायोचित नही कहला सकता है। कृपया आप इस बालक पर दया रखिए और कष्ट न दीजिए।

तारा की यह प्रार्थना सुनकर ब्राह्मण पुत्र ने कहा — जब मैं तुम्हे अच्छा खाना, कपडा आदि देता हू, धर्म-कथा सुनने के लिए बुलाता हू, तब तो तुम अकडी-अकडी फिरती हो और अब ऐसा कहती हो।

तारा— आप मुझे जो कुछ देना चाहते थे, वह सब आपकी कृपा थी, लेकिन मैंने नही लिया तो इसमे मेरी ही हानि हुई, आपकी क्या हानि हुई, जो आप इस प्रकार क्रुद्ध होए ?

तारा की इस प्रकार की बातें सुनकर ब्राह्मण पुत्र और अधिक क्रुद्ध हो उठा। उसने अपने घर मे कह दिया कि दासी को दिया जाने वाला भोजन मुझे बिना बताए न दिया जाए। यह कहती है कि ज्यादा खाने से आलस्य पैदा होता है और उससे मालिक के कार्य मे बाधा पहुचती है। अत इसे ज्यादा और अच्छा भोजन देना ठीक नहीं है।

अब तक तारा को एक मनुष्य के खाने लायक भोजन मिलता था और उसी में अपने पुत्र सहित निर्वाह करती थी। लेकिन अब इतना कम भोजन मिलने लगा कि जो एक मनुष्य के पेट के लिए भी पूरा न पडता था। तारा भोजन लाकर रोहित को खिलाने के लिए बैठ जातीं। रोहित स्वभावानुसार मा से भी खाने को कहता परन्तु तारा उसे समझा देती कि तुम खा लो, फिर मैं भोजन कर लूगी। कभी-कभी जब रोहित साथ खाने की हठ करने लगता तो तारा छोटे-छोटे ग्रास से खाने लगती। धीरे-धीरे रोहित समझना चला कि मेरी माता मेरे लिए भूखी रहती है।

ब्राह्मण पुत्र तारा को कम भोजन देकर भी शात न हुआ। वह तारा से अधिकाधिक काम लेने लगा। एक दिन उसने गंगा मे जल भर

लाने की आज्ञा दी। तारा मालिक की आज्ञा का उल्लंघन करना तो जानती ही न थीं इसलिए घड़ा लेकर जल भरने चल दीं।

जो रानी पीने के लिए भी हाथ से जल लेना नहीं जानती थीं आज वही स्वयं जल भरने के लिए जा रही थीं। लेकिन यह सब सत्य के लिए कर रही थीं इसलिए उन्हें इसका किंचित् भी दुःख नहीं था।

२१. भंगी के दास राजा

ससार मे सेवा के बराबर कठिन कोई कार्य नही है। जो मनुष्य अपनी आत्मा का अच्छी तरह से दमन कर सकता है, मालिक की इच्छा के अनुसार अपने स्वभाव को बना सकता है, वही सेवाधर्म का पालन कर सकता है। सेवाधर्म इतना कठिन है कि यदि सेवक चुप रहता है तो मालिक उसे गूगा, बोलता है तो वाचाल, पास रहता है तो ढीठ, दूर रहता है तो मूर्ख, सह लेता है तो डरपोक और नही सहता है तो नीच कुल का कहता है। मतलब यह है कि सेवाधर्म बड़ा ही कठिन है, जो योगियो द्वारा भी अगम्म माना जाता है।

सेवा के नाम से घबराकर एक कवि कहते हैं—

चाहे कुटी अति घने वन में बनावे,
चाहे बिना लौन कुत्सित अन्न खावे।
चाहे कभी नर नये पट भी न पावे,
सेवा प्रभो पर न पर तू पर की कहावे॥

अयोध्या जैसे विशाल राज्य के स्वामी महाराज हरिश्चन्द्र और महारानी तारा इसी कठोर सेवाधर्म का पालन कर रहे थे। उनके हृदय मे क्या-क्या विचार होते होंगे, यह तो नहीं कहा जा सकता है। परन्तु इस स्थिति मे भी जिन कष्टो का अनुमान किया जा सकता है, वे इनको उस रूप में अनुभव नही हो रहे थे। वे तो यही समझते थे कि ये कष्ट सत्य के चले जाने के कष्टो से कही लाख दर्जे अच्छे हैं। जब तक हमारा सत्य बना हुआ है, तब तक हमें कोई कष्ट नही है। जिस प्रकार एक तपस्वी को तपस्या करते देख अन्य लोग तो समझते हैं कि इन्हे कष्ट हो रहा है, लेकिन तपस्वी से पूछने पर वह यही कहेगा कि मुझे कोई कष्ट नही है, मैं तो

तपस्या कर रहा हूं। ठीक यही बात राजा और रानी के विषय में भी थी देखने-सुनने वाले तो यही समझते थे कि इन्हें कष्ट है परन्तु उनको कोई कष्ट नहीं था।

विश्वामित्र के ऋण से मुक्त होकर महाराज हरिश्चन्द्र मंत्री के साथ उसके घर आए। उनके हृदय में न तो किसी प्रकार की ग्लानि थी और न संकोच बल्कि धर्म की रक्षा हो जाने के कारण मन प्रसन्न था।

घर आकर मंत्री ने अपनी पत्नी से कहा कि ये विपद्ग्रस्त सत्पुरुष अपने यहां आए हैं। इनको नौकर न समझकर जो कुछ बन सके तथा करना और अनुचित व्यवहार न होने देने का ध्यान रखना। किसी कवि ने कहा है कि हंस का तो यह दुर्भाग्य है जो उसे तलैया पर आना पड़ा लेकिन उस तलैया के तो सद्भाग्य ही हैं कि उसके यहां मानसरोवर पर रहने वाला हंस अतिथि बनकर आया है। इसी प्रकार इन सत्पुरुष के तो दुर्भाग्य हैं जो इन्हें अपने यहां आना पड़ा परन्तु अपना तो सद्भाग्य ही है।

यद्यपि मंत्री ने तो अपनी पत्नी को राजा के बारे में अच्छी तरह समझाया था लेकिन कर्कशा स्त्रियों पर ऐसे समझाने का क्या प्रभाव हो सकता है? मंत्रिन भी कर्कश स्वभाव की थी इसलिए पति के समझाए जाने पर उसे जहां राजा के प्रति सहानुभूति प्रकट करनी चाहिए थी वहां वह अपने पति के समझाने का उल्टा ही अर्थ करने लगी व कहने लगी कि जब इनसे काम नहीं लेना था तो क्या पांचसौ मुहरें खर्च करके इन्हें सूरत देखने को खरीदा है? मेरे महलों आदि के लिए तो पांच मुहरें भी खर्च नहीं की जा सकती हैं और इस पापी के लिए थोड़ी-बहुत नहीं पांचसौ मुहरें खर्च कर दीं?

अपने स्वभावानुसार मंत्रिन पति पर काफी क्रुद्ध हुई। परन्तु मंत्री उसे पुनः समझा-बुझाकर और डांट-डपटकर शांत कर दिया।

राजा के कुछ दिन तो इसी प्रकार बिना काम के बैठे-बैठे बीत गए। लेकिन राजा अपने मालिक मंत्री से कहते रहते थे कि मुझे काम बतलाइए। बिना काम किए न तो मेरा समय ही शांति से बीतता है

और न ऐसा करना अनुकूल ही है। लेकिन उत्तर मे भगी कहता कि बस आप बैठे रहिए और जहा इच्छा हो वहा घूमते रहिए तथा समय-समय पर अपने मुख से दो-चार धर्म के शब्द सुना दिया कीजिए, यही आपका काम है।

राजा भगिन से भी काम मागा करते, लेकिन वह काम देने की बजाय कुडकुडाने लगती। एक दिन राजा के काम मागने पर भगिन ने क्रोधावेश मे राजा को घडा लेकर पानी भर लाने की आज्ञा दी। राजा बड़े प्रसन्न हुए कि क्रोधित होकर भी मालकिन ने काम तो बतलाया। वे घडा उठाकर पानी भरने चल दिए और उसी पनघट पर पहुचे जहा रानी भी पानी भरने आई थी।

पनघट पर पति-पत्नी ने एक दूसरे को देखा और हर्षित हुए। साथ ही यह विचार कर विषाद भी हुआ कि वे क्या थे और क्या हो गए हैं? लेकिन उन दोनो ने एक दूसरे के दर्शन के आनन्द से उस विषाद को दबा दिया। सच्चे प्रेमी कभी-न-कभी, किसी-न-किसी अवस्था मे मिल ही जाते हैं। परमात्मा से जिसका प्रेम सच्चा है उसे परमात्मपद अवश्य ही मिलता है। इसी प्रकार जिन राजा और रानी को एक दूसरे की खबर भी न थी कि वे कहा हैं तथा इस बात की भी आशा नही थी कि कभी एक-दूसरे को देख सकेंगे, वे आज अनायास ही पनघट पर मि गए थे।

पति-पत्नी ने एक दूसरे के कुशल समाचार पूछे। विश्वामित्र के शेष ऋण चुकाए जाने के बारे में रानी के पूछने पर राजा ने बत या कि तुम्हारे बतलाए हुए मार्ग पर चलकर मैंने शेष ऋण भी चुका दिया है। सचमुच तुमने भविष्य जानकर ही यह कहा था कि सत्य के लिए मैं भगी के यहा भी बिक सकती हू। तुम्हारे निर्देशानुसार मैंने भगी के यहा बिक-कर ऋण चुकाया है।

दोनो के हृदय मे अपार आनद था और वे दोनो इसका कारण स्वामी की आज्ञा-पालन मानकर अपने-अपने खरीददार की प्रशसा कर

रहे थे कि यदि मालिक मुझे पानी भरने के लिए न भेजते तो यह आनंद कहां से प्राप्त होता और एक-दूसरे के बारे में उत्पन्न चिन्ताएं कैसे मिटतीं ?

हर्ष-विषाद-मग्न दम्पति कुछ देर तक तो इसी प्रकार बातचीत करते रहे। पश्चात् तारा ने कहा— नाथ यद्यपि आपसे दूर होने की इच्छा तो नहीं है लेकिन जिस प्रकार आप स्वतन्त्र नहीं हैं उसी प्रकार मैं भी स्वतन्त्र नहीं हूं। समय काफी हो चुका है, अतः अब अधिक देर करना मालिक को धोखा देना होगा।

राजा ने भी रानी की बात का समर्थन किया और दोनों अपने अपने घड़े भरने लगे। ब्राह्मण का घड़ा लेकर आने से पनघट पर उपस्थित स्त्रियों ने रानी के घड़े तो उठवा दिए किन्तु राजा भंगी का घड़ा लेकर आए थे इसलिए उनको किसी ने नहीं उठवाया।

राजा के पानी भरने का यह पहला ही दिन था अतः वे घड़ा उठाने में अभ्यस्त न थे। उन्होंने रानी से घड़ा उठवा देने के लिए कहा परन्तु रानी ने उत्तर दिया— नाथ मुझे आपसे किसी प्रकार की घृणा नहीं है, लेकिन मैं ब्राह्मण के घड़े लेकर आई हूं और आप भंगी का इस लिए बिना स्वामी की आज्ञा के मैं आपको घड़ा उठवाने में असमर्थ हूं। आप घड़ा लेकर जल में चले जाइए। जल में वस्तु भारी नहीं जान पड़ती और वहां झुककर इसे अपने कंधे पर रख लीजिए।

रानी की इस तरकीब को सुनकर राजा बहुत ही प्रसन्न हुए और कहने लगे— यदि तुम आज घड़ा उठवा भी देतीं तो मेरे लिए भविष्य का कष्ट फिर भी बाकी रह जाता। परन्तु तुमने यह युक्ति बताकर आगे के लिए मेरा मार्ग साफ कर दिया और अपना धर्म भी बचा लिया।

दोनों अपने-अपने घड़े उठाकर चल दिए। आज राजा मानसिक द्वारा काम मिलने और विपत्ति के समय बहुत दिनों से बिछुड़ी हुई पत्नी के दर्शन होने से बड़े प्रसन्न थे। लेकिन अभी भी सत्य की कसौटी होनी शेष थी इसलिए उनकी यह प्रसन्नता अधिक समय तक न टिक सकी। जिन दुष्ट देव ने सत्य से विचलित करने के लिए राजा को इतने कष्ट

मे डाला था, उसने मार्ग मे घडा लेकर जाते हुए राजा को एक ऐसी ठोकर लगने की व्यवस्था कर रखी थी कि जिसके लगते ही राजा गिर पडे और घडा फूट गया। घडे के फूटते ही राजा की सब प्रसन्नता काफूर हो गई। वे विचारने लगे कि अनेक बार प्रार्थना करने पर तो मालकिन ने आज पहली मर्तबा काम बताया, लेकिन वह भी बिगडा गया। अब न मालूम वे क्या कहेंगी। जो होना था, सो हो गया। परन्तु जान-बूझ-कर तो मैंने घडा फोडा नही, फिर भी मालकिन जो कुछ कहेगी, उसे सुनना ही पडेगा।

राजा को खाली हाथ लौटते देख भगिन क्रुद्ध होकर कहने लगी कि इतनी देर कहा लगाई और घडा कहा है ?

राजा से घडे फूटने की घटना को सुनते ही भगिन की क्रोधाग्नि भडक उठी। उसने चिल्लाते हुए कर्कश स्वर मे राजा को अनेक दुर्वचन सुनाए। लेकिन राजा बडी शांति से उन सबका सुनते हुए सहते रहे।

धर्म पालन के समय यदि मनुष्य मानापमान का विचार करे तो वह धर्म के पालन मे समर्थ नही हो सकता है। जो कष्ट सहने मे धीर, बात सुनने मे गभीर हो तथा जिसे मानापमान का विचार न हो, वही मनुष्य धर्म का पूर्णतया पालन कर सकता है। इसी प्रकार हरिश्चन्द्र भी यदि सत्यपालन के लिए मानापमान का विचार करते और आई हुई विपत्तियो को न सहते तो कभी के सत्य से भ्रष्ट हो चुके होते। लेकिन धैर्यवान पुरुष न तो सुख का सुख ही समझते हैं और न दु ख को दु ख ही। वे प्रत्येक दशा मे समभाव रखते हैं। कहा भी है—

क्वचिद् भूमौशैय्या क्वचिदपि च पर्यंक शयनं,
क्वचिच्छाकाहार' क्वचिदपि च शाल्योदन रुचि।
क्वचिद् कथाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बर धरो,
मनस्वी कार्यार्थी, न गणयति दु ख न च सुखम्॥

कभी भूमि पर ही पडे रहना तो कभी सुन्दर पलग पर सोना, कभी सागपात खाकर गुजर करना तो कभी सुरुचिपूर्ण दालभात का

भोजन मिलना कभी फटी हुई गुदड़ी पहनने को मिलना तो कभी दिव्य सुन्दर वस्त्रों को धारण करना आदि सभी दशाओं में मनस्वी कार्यार्थी पुरुष सुख या दुःख नहीं मानते हैं। अर्थात् वे प्रत्येक दशा में समभाव रखते हैं।

इसी प्रकार राजा को भी मानापमान सुख-दुःख वियोग-मिलन आदि का ध्यान नहीं था। वे तो यही विचार कर रहे थे कि चाहे जितनी गालियां सुननी पड़ें अपमानित होना पड़े और चाहे जितने कष्ट सहने पड़ें लेकिन मुझसे सत्य न छूटे। इसी विचार से वे भंगिन के कटु शब्दों को सहते हुए भी उसके प्रति कृतज्ञता प्रगट करते रहे कि मालकिन की कृपा से ही आज मुझे रानी के दर्शन हुए हैं।

जिस समय भंगिन राजा को दुर्वचन कह रही थी कि उसी समय भंगी भी बाहर से आ गया। राजा के प्रति अपनी पत्नी का ऐसा दुर्व्य वहार उसे असह्य हो उठा। वह डंडा लेकर भंगिन को मारने के लिए दौड़ा और कहने लगा कि मैंने तुझे कितना समझाया लेकिन तू फिर भी नहीं समझी अब तू मेरे घर से ही निकल जा।

मालिक को क्रुद्ध देखकर राजा दोनों के बीच में खड़े होकर कहने लगे— आप इन्हें कुछ न कहिए। मैं आपसे सदा काम मांगा करता था लेकिन आपने आज तक मुझे कभी काम नहीं बताया। लेकिन इन्होंने आज काम बत लाया भी सो भी मुझसे पूरा न हो सका। अब यदि ये मुझ पर क्रुद्ध हो रही हैं तो इसमें इनका क्या दोष? यदि मैं घड़ा फोड़कर न आया होता तो ये क्रुद्ध ही क्यों होतीं? यदि ये कुछ कहती हैं तो अनुचित ही क्या है! आप मुझ पर दया करिए और मेरी प्रार्थना स्वीकार करके इन्हें कुछ न कहिए।

राजा की बात सुनकर भंगी और भंगिन दोनों आश्चर्य-चकित रह गए। भंगिन विचारने लगी कि मैंने तो इन्हें इतनी गालियां दी इतने दुर्वचन कहे और फिर भी ये मेरी प्रशंसा ही कर रहे हैं। भंगी सोचने

लगा कि ये कैसे विचित्र मनुष्य हैं कि जो अपने को गाली देने वाली का भी पक्ष कर रहे हैं ।

राजा का कहना मानकर भगी ने अपने विचार बदल दिए और राजा की प्रशसा करते हुआ बोला— महाराज, यह दुष्टा आपको सदा दुर्वचन कहती रहती है और इधर आप भी सदैव काम मागा करते हैं । अत आप श्मशान भूमि पर चले जाइए और रखवाली करते रहिए । वहा मृतक का अग्नि-मस्कार करने के लिए आने वालो से मस्कार करने से पहले लकडी आदि दाह-सामग्री के मूल्य-स्वरूप एक टका लेते रहिए । ऐसा करने से आपको काम भी मिल जाएगा और इस कर्कशा के पजे से भी बचे रहेगे ।

मालिक के आदेशानुसार राजा श्मशान-भूमि में रहकर मालिक की आज्ञा का पालन करने लगे ।

२२ स्वावलम्बी रोहित

राजा हरिश्चन्द्र और रानी तारा यद्यपि इस समय परतंत्र हैं लेकिन उनकी भावना स्वतंत्र ही है। रोहित तो पहले भी स्वतंत्र था और अब भी स्वतंत्र है, अतः उसने स्वतंत्रता की उपासना छोड़ना स्वीकार न की।

प्रत्येक प्राणी में स्वतंत्रता की भावना एक प्रकृतिदत्त श्रेष्ठ गुण है। इसी कारण स्वतन्त्रता का अधिकार सबको प्राप्त है। यद्यपि स्वतन्त्रता अच्छी और परतन्त्रता बुरी है लेकिन परतन्त्रता के संस्कारों के वश यह गुण धीरे-धीरे लुप्त होता जाता है और परतन्त्र प्राणी परतन्त्रता में ही आनंद मानने लगते हैं। यद्यपि स्वतन्त्रता अच्छी और परतन्त्रता बुरी है, लेकिन परतन्त्रता के संस्कारों के कारण यह अच्छाई-बुराई नहीं दीखती और ऐसे लोग परतन्त्रता को ही अच्छी समझने लगते हैं। इसके विरुद्ध जो मनुष्य स्वतन्त्रता का तनिक भी आभास पा जाता है उसके लिए परतन्त्रता नरक के समान दुःखदायी हो जाती है।

यद्यपि रोहित अपनी माता के भोजन में से भोजन करता था किन्तु विचारता रहता था कि मेरे लिए ही माता भूखी रहती है। ऐसी दशा में मुझे उसके भोजन में से भोजन करना उचित नहीं है। अधिक नहीं तो कम-से-कम मुझे अपने उदर-पोषण के लायक भोजन तो उपार्जन कर ही लेना चाहिए।

ऐसा विचार कर रोहित ने अपनी माँ तारा से कहा— अब मैं अपने लिए स्वयं भोजन उपार्जन करूंगा। यह मुझे स्वीकार नहीं है कि आपके भोजन में से खाकर काम भी करूं और अत्याचार भी सहन करता रहूं। कल से मैं अपने लिए आप भोजन ले आया करूंगा और फिर

थोडे दिनों बाद आपको भी इस कष्ट से छुडा लू गा तथा पिताजी को भी खोज निकालू गा।

रोहित की बात सुनकर तारा गद्गद हो उठी। ऐसी माता कौन न होगी जो अपने पुत्र के स्वतन्त्र विचार सुनकर प्रसन्न न हो? उन्होंने प्रसन्नता प्रगट करते हुए रोहित से कहा— बेटा तुम्हारा विचार है तो उत्तम, लेकिन अभी तुम बालक हो। बडे हो जाने पर अवश्य ही ऐसा करना।

रोहित— नही मा, अब मैं आपका लाया हुआ भोजन भी नही करू गा, इस घर का काम भी नही करू गा और न अत्याचार सहूँगा। यदि मैं छोटा हू तो मेरा पेट भी छोटा है। मैं इसके भरने लायक भोजन तो अपने इन छोटे-छोटे हाथो से अवश्य ही उपार्जन कर लू गा। इस घर मे विकी आप हैं, इसलिए आप इनके अधीन रहिए, मैं नही रह सकता। मैं तो स्वतन्त्र रहूगा।

तारा रोहित की इन बातो का कुछ भी उतर न दे सकी। उन्होने कहा— अच्छा, तुम जो लाओ, वह लाया करो, उसे हम दोनों मिलकर खाया करेंगे।

एक बालक तो रोहित है, जिसके हृदय मे स्वतन्त्रता के भाव पैदा हो रहे हैं, जो परतत्र नही रहना चाहता और एक आज के भारतीय है जो भारत की ही वस्तु खा-पहनकर भी परतत्र रहना चाहते हैं। भारत मे उत्पन्न हुई रुई का कपडा पहनें, भारत मे उत्पन्न अनाज खाए, फिर भी विदेशियो के अधीन रहने मे अपना गौरव मानते हैं। इस अतर का कारण परतन्त्रता के वे सस्कार हैं जिनके बधन मे देश अधिक समय तक जकडा रहा और उससे यहा के अधिकाश निवासियो के सस्कार ही ऐसे हो गए है कि वे गुलामी मे ही सुख अनुभव करते हैं, स्वतन्त्रता मे उन्हे सुख का लेश भी दिखलाई नहीं देता है।

दूसरे दिन सवेरे ही रोहित वन की ओर चल दिया। वहा पर उसने वृक्ष पर चढ़कर अच्छे-अच्छे फलादि तोडे। उनमे से कुछ तो स्वय

खाए और कुछ माँ के लिए रख लिए।

प्राचीन समय में राजा लोग वन पर अपना अधिकार न रखकर प्रजा के लिए छोड़ देते थे। प्रजा के बहुत से मनुष्य वन के द्वारा ही अपनी आजीविका चलाते थे। कोई उसमें से घास लकड़ी आदि का संग्रह कर निर्वाह करते थे। कोई गाय आदि पशु चराकर अपनी आजीविका चलाते थे और कोई उसमें उत्पन्न फल-फूलादि खाकर अथवा बेचकर अपने दिन व्यतीत करते थे। वन पर किसी व्यक्ति विशेष का नियंत्रण नहीं था किन्तु सबको समानाधिकार प्राप्त था।

इसके अलावा वन के होने से वर्षा बहुत होती थी जिससे अन्नादि अधिक उत्पन्न होते थे और मनुष्य को शुद्ध वायु भी खूब मिलती थी। लेकिन जब से वन पर राज्य का नियंत्रण हो गया है और वे नष्ट कर डाले गए हैं तब से प्रजा देश और पशुओं के कष्ट बढ़ गए हैं। आज पशुओं की जो क्षति और दुर्बलता दिखलाई देती है अनाज की उत्पत्ति की कमी सुनी जाती है, उसके कारणों में से एक कारण वन की कमी या उस पर राज्य का नियंत्रण होना भी है।

फल खाकर और कुछ फल माँ के लिए लेकर रोहित घर आया। इधर तारा चिंतित हो रही थी कि आज न मालूम रोहित कहाँ चला गया। रोहित को देखते ही तारा की यह चिन्ता मिट गई और उन्होंने रोहित से पूछा— बेटा! आज तुम कहाँ चले गए थे?

रोहित— माँ आज मैं वन में गया था। वहाँ प्रकृति की छटा देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। जिस तरह आप मेरी माता हैं उसी तरह प्रकृति सारे संसार की माता है। जिस प्रकार आप स्वयं कष्ट उठाकर मुझे भोजन देती हैं, उसी प्रकार वह भी संसार को भोजन देती है। इन फलों को देखो। इनसे मेरा भी पेट भर जाएगा और आपका भी। अब मैं आपके भोजन में से भोजन नहीं करूंगा। किन्तु अपना लाया हुआ भोजन आप किया कीजिए और मेरा लाया हुआ भोजन मैं किया करूंगा। अब मुझसे यह नहीं हो सकेगा कि दूसरे के अधीन

रहकर बात सुनू । मैं अपना स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करूगा और आपको भी इस दुख से छुडाऊगा ।

पुत्र की बातें सुनकर तारा को होनेवाली प्रसन्नता का वर्णन नही किया सकता है। उन्होंने समझ लिया कि रोहित क्षत्रिय-पुत्र है, वीर बालक है। इसलिए पराधीन रहनेवाला नही हो सकता है।

तारा ने रोहित से कहा— बेटा ! केवल फलो के खाने से ही शरीर सशक्त नही रह सकता और बिना शक्ति के तुम कैसे तो मुझे इस परतन्त्रता से छुडा सकोगे और कैसे अपने पिताजी को खोजकर लाओगे ? इसलिए मेरे लाये हुए भोजन मे से भोजन किया करो।

रोहित— यदि आप मेरे लाये हुए भोजन मे से भोजन करना स्वीकार करें तो मैं भी आपके भोजन मे से भोजन कर सकता हू, अन्यथा नही।

तारा ने रोहित की बात स्वीकार कर ली और दोनो एक दूसरे के लाये हुए भोजन मे से भोजन करने लगे।

बहुत समय से रोहित को न देखकर एक दिन ब्राह्मण पुत्र ने तारा से पूछा कि आजकल रोहित दिखलाई नही देता है। तारा ने बतलाया कि अब वह अपना स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करता है।

तारा की बात को सुनकर ब्राह्मण पुत्र साश्चर्य विचारने लगा कि मैंने तो इन्हे कम भोजन देकर अपने वश मे करना चाहा था, लेकिन ये लोग तो और भी स्वतन्त्र हो गए। यह तो बडी विचित्र स्त्री है, अब इससे बचकर रहने मे ही लाभ है, अन्यथा किसी दिन अनर्थ हो जाएगा। ऐसा विचार कर ब्राह्मण पुत्र ने तारा से किसी भी प्रकार की अनुचित आशा रखना छोड दिया और कष्ट देना बद कर दिया।

प्रतिदिन रोहित वन से फल ले आता। कभी-कभी तारा उन फलो मे से थोडे फल ब्राह्मण पुत्र को देकर कहती कि आप इनको खाकर देखिए, ये कैसे अच्छे हैं। कभी इन हाथो से मैंने बहुत कुछ दान दिया है, लेकिन अब तो मैं स्वय ही आपका दिया हुआ भोजन करती हू, तो

दान कहां न करूं ? रोहित के अपने उद्योग से लाये हुए फलों में से मुझे दान करने का भी अधिकार है, अतः आप इन्हें खाइए।

तारा के लिए हुए फलों को लेते हुए ब्राह्मण पुत्र ऊपर से तो प्रसन्नता व्यक्त करता था परन्तु मन-ही-मन उस रोहित की इस स्वातन्त्र्य प्रियता पर दाह होती थी।

तारा और रोहित इसी प्रकार प्रसन्नता पूर्वक अपने दिन व्यतीत करते जा रहे थे।

२३. एक और आघात

ससार मे मनुष्यो का जीवन विशेषत आशा पर निर्भर है। यदि एक क्षण के लिए भी आशा मनुष्य का साथ छोड दे तो सभवत मनुष्यो की जीवन-नौका पार लगना कठिन हो जाए। प्रत्येक मनुष्य अधेरे के बाद उजेला, विपत्ति के बाद सपत्ति और दु:ख के बाद सुख की आशा करता है। यदि यह न हो तो उसका जीवन भार रूप हो जाए। निराशावादी मनुष्यो के प्रत्येक कार्य मे निराशा-ही-निराशा दिखलाई देती है, इस कारण वे निरुद्यमी, भीरु और आलसी बन जाते हैं। उनका जीवन दु खमय हो जाता है और वे किसी भी सत्कार्य को प्रारम्भ करने का साहस नही कर पाते हैं। लेकिन आशावादी घोर दु खों का सामना होने पर भी निराश नही होते हैं। कदाचित् वे किसी कार्य मे असफल भी रहें तो भी निराशा को पास नही पटकने देते और उद्योग करते रहते हैं। तारा आज परतन्त्र हैं और इस बात पर विश्वास करने का कोई कारण नही था कि उन्हें कोई पाचसौ स्वर्ण-मुद्राए देकर दासीपने से मुक्त करेगा, फिर भी उन्हें अपने पुत्र से इस बात की आशा थी कि वह बडा होकर अपने उद्योग से मुझे तथा पति को दासत्व से छुडाएगा। इस आशा के सहारे ही वे दासीपने मे भी प्रसन्न थी।

यद्यपि इसी आशा के सहारे किसी-न-किसी प्रकार तारा के दिन बीत रहे थे, लेकिन अभी भी उनके सत्य की खास कसौटी होना तो शेष ही थी। इसी कारण उनकी यह आशा अधिक दिन न टिक सकी। विपत्ति आशा पर ही आघात करती है और उसी का नाश करती है। यदि वह आशा का नाश न करे तो फिर कोई भी मनुष्य अपने आपको विपत्ति मे न समझे और न उससे घबराए।

नियमानुसार रोहित प्रतिदिन वन से विभिन्न प्रकार के फलों को लाता और तारा उनमें से आप भी खाती तथा दूसरों को भी देतीं। यद्यपि तारा इस प्रकार अपना जीवन व्यतीत कर रही थीं लेकिन हरिश्चन्द्र को सत्य से भ्रष्ट करने की प्रतिज्ञा करने वाले देव से तारा का यह सुख भी न देखा गया और उसने एक बार पुनः राज-दम्पति को सत्य से भ्रष्ट करने की चेष्टा करने का विचार किया।

नित्य की तरह रोहित वन में गया। उसने वहां का प्रत्येक वृक्ष देख डाला लेकिन उस दुष्ट देव की माया से उसे एक भी फल न मिला। वह बहुत घूमा-फिरा किन्तु सब निष्फल रहा। रोहित मन-ही-मन कहने लगा— आज क्या बात है? क्या प्रकृति ने अपनी वत्सलता छोड़ दी है? तभी तो अपनी गोद में आये हुए बालक को आज भूखा रख रही है। आज अवश्य ही वह मुझसे रूठ है।

रोहित का फल ढूंढते-ढूंढते काफी समय व्यतीत हो चुका था। अब भूख भी सताने लगी थी। उसने वृक्षों के कुछ पत्ते खाए परन्तु भूख न मिटी। इधर ऊपर से माता की चिन्ता भी उसे सता रही थी कि यदि मैं बिना फल लिए जाऊंगा तो मुझे माता के भोजन में से ही भोजन करना पड़ेगा और उन्हें भूखा रहना पड़ेगा जो मेरे लिए सर्वथा अनुचित है।

इस विचार से रोहित घर न जाकर फल ढूंढता रहा और भूख से नितांत विकल होकर एक वृक्ष के नीचे लेट गया। भूख के मारे उसे नींद नहीं आई और लेटे-लेटे परमात्मा का स्मरण करने लगा।

रोहित परमात्मा का स्मरण कर ही रहा था कि समीप ही किसी वस्तु के गिरने की आहट सुनाई दी। उसका ध्यान भंग हुआ और उठकर आस-पास देखा तो एक पका हुआ आम का फल दिखाई दिया। प्रसन्न होकर रोहित ने वह फल उठा लिया और चूसने लगा। उसे वह फल इतना स्वादिष्ट जान पड़ा कि वैसा फल उसने पहले कभी खाया ही न हो। एक तो उसे इस समय भूख लगी थी और दूसरे फल था भी कुछ अधिक

स्वादिष्ट। फल खाने से रोहित की भूख बहुत कुछ मिट गई और उसे शाति मिली।

जब रोहित फल खा चुका तो उसे ध्यान आया कि ऐसा अच्छा फल बिना मा को दिए मैं अकेला ही क्यो खा गया ? यदि इस फल को मैं माता के पास ले जाता तो कैसा अच्छा होता ? लेकिन धिक्कार है भूख को, जिसने इस समय मुझे माता का ध्यान नही रहने दिया। अब इस फल के वृक्ष को खोजकर और उसमे से फल तोडकर माता के पास ले जाऊगा।

इस प्रकार का विचार करके रोहित इधर-उधर उस फल के वृक्ष को देखने लगा। उसे पास ही ऐसे फलो से लदा हुआ एक आम का वृक्ष दीख पडा। उसे देखकर वह विचारने लगा कि इन वृक्षों को तो मैं पहले ही अच्छी तरह देख चुका था, लेकिन मुझे एक भी फल दिखलाई नही पडा था। अब मैं इस वृक्ष मे से बहुत से फल ले जाकर अपनी माता को दू गा तो वे स्वय इन्हे खाकर तथा दूसरो को देकर बहुत प्रसन्न होगी।

यह सोचकर रोहित जैसे-ही वृक्ष पर चढने के लिए उसके समीप पहुचा तो उसकी दृष्टि तने से लिपटे हुए भयानक काले सर्प पर पडी। वह सर्प अपनी लाल-लाल आखो से रोहित की ओर देखने तथा फुफकारने लगा। आज के बालक तो क्या, यदि युवक भी होते तो उस विकराल सर्प को देखकर भाग जाते। लेकिन रोहित वीर बालक था और तारा ने शिक्षा द्वारा उसकी रग-रग मे वीरता भर दी थी। वह सर्प से किंचित् भी भयभीत न हुआ, बल्कि स्वय भी अपनी आखें लाल करके सर्प से कहने लगा— ओ विषधर ! तू वृक्ष घेरकर क्यो बैठा है ? फल तो तू खाता नही, वह तो मनुष्यो का आहार है, फिर तूने इस वृक्ष पर क्यो अधिकार कर रखा है। इस वृक्ष के फलो का अधिकारी मैं हू, तू नही, अत यहा से चला जा।

रोहित की बातें सुनकर सर्प ने एक बार पुन फुफकारा कि यदि तुझे अपने प्राण प्रिय हैं तो यहा से चला जा। लेकिन रोहित ऐसी

फुफकारों से भय करने वाला था। उसने कहा— जब मैं कह चुका हूं कि फल तेरे काम के नहीं हैं इसलिए तू वृक्ष को छोड़ दे लेकिन तू तो अपने अभिमान मे सुनता ही नहीं है। मैं तुमसे फिर कहता हूं कि तू इस वृक्ष को छोड़कर चला जा। मैं अपने अधिकार की वस्तु तेरे डराने से कदापि नहीं छोड़ूंगा। मेरी माता प्रतीक्षा कर रही होंगी वे मेरे लिए भूखी होंगी मैं इन फलों को उनके लिए ले जाऊंगा। इसलिए तू वृक्ष को छोड़ दे देर मत कर।

रोहित की इन बातों को सुनकर भी सर्प न हटा बल्कि पुनः फुफकारा। रोहित कहने लगा— मैं तुमसे पहले ही कह चुका हूं कि मैं अपने अधिकार की वस्तु किसी प्रकार भी नहीं छोड़ूंगा फिर भी तू मुझे डरा रहा है। यदि तू नहीं हटता है तो मत हट। मैं दूसरी तरह से वृक्ष पर चढ़कर फल तोड़ लूंगा।

रोहित के इस कार्य का नाम सत्याग्रह है। भय या आपत्ति से न डरकर अपने अधिकारों पर स्थिर रहना या अपने अधिकारों की प्राप्ति व रक्षा का उपाय करना ही सत्याग्रह है। रोहित के ऐसे करने से प्रगट है कि उस समय के बालक भी सत्याग्रह करना जानते थे लेकिन आज के अधिकांश वृद्ध भी सत्याग्रह का नाम सुनकर ही डरने लगे जाते हैं। इस अंतर का कारण शिक्षा का अंतर ही है। पहले के बालकों को वीरता की शिक्षा दी जाती थी लेकिन आजकल के बालकों को कायरता की शिक्षा दी जाती है। जहां पहले के बालकों को सिखाया जाता था कि वे किसी से भय न करें वहां आज के बालकों को भूत प्रेत के झूठे भय से डराया जाता है। इस तरह आज के बालकों में जब कायरता की भावना भरी जाती है तो वे सत्याग्रह करें तो करें कैसे। सत्याग्रह वीर ही कर सकता है, कायर नहीं।

जब सर्प ने मार्ग न दिया तो रोहित आस-पास की फैली हुई डालियों में से एक को पकड़कर वृक्ष पर चढ़ने लगा तो सर्प ने दौड़कर उसके

पैर मे डस लिया। सर्प के डसते ही रोहित छटपटाकर भूमि पर गिर पडा और क्षण भर मे सारे शरीर मे विष फैल गया।

छटपटाते हुए रोहित आप-ही-आप कहने लगा — माता तारा ! आज तुम्हारा रोहित विनष्ट है। समीप कोई नही है, आज से तुम्हे माता कहने वाला न रहेगा। पिताजी कहा हैं ····· तुम दासीत्व के बधन मे जकडी हो। विचारता तो था तुम्हे बधन मुक्त और पिताजी को खोज लाऊगा लेकिन ·· निराश हो । माता · कौन तुम्हे सुनाएगा और क्या जीवित रह सकोगी। लेकिन अब तुम अपने रोहित को न देख पाओगी। माता · चिन्ता न करना। मैं वीरो की तरह मर रहा हू। तुम्हारी शिक्षा ने । तुमने मेरे लिए कष्ट सहे, अपने प्राण मानती थीं लेकिन जा रहा हू। यह तुम्हारे धैर्य की परीक्षा का समय है। पिताजी ! एक वार · अपने प्यारे रोहित को देखो ! आज जा रहा हू ! माताजी को कौन धैर्य बधाएगा ! लेकिन अब सब चिन्ता छोड मुझे तो परमात्मा का स्मरण करना चाहिए जो तिन्नाण तारयाण हैं। ससार मे जीते जी के सब सवन्ध हैं। जीव अकेला आता जाता है। कोई · साथी नही। बडे · बडे राजा-महाराजा ससार से अकेले गए। उन्हे मौत से ·· नही वचा सका। जिस काया पर · ·· घमड करता है, वह यही पडी रह जाने वाली है। आत्मा अपने शुभाशुभ कर्मों · · का स्वय फल भोगता है।

इस प्रकार परमात्मा एव ससार के स्वरूप का विचार कर रोहित फिर कहने लगा— माता ! मेरा अन्तिम प्रणाम। पर मेरा प्रणाम · तुम तक पहुचेगा या नही, कौन · तुम्हे पहुचाएगा। अव तो आपसे अतिम विदा · ··। कहते-कहते रोहित वेहोश हो गया, जीभ लडखडाने लगी। शारीरिक हरकत बद होने लगी।

कुछ लोगों ने सर्प द्वारा रोहित को डसते और गिरते देखा था। वे दौड़कर आम के नीचे इकट्ठे हो गए। रोहित को देखकर वे आपस में विचार करने लगे कि न मालूम यह सुन्दर बालक किसका है ? देखते देखते इसका कोमल शरीर काला पड़ता जा रहा है। बार बार तारा का लेता है। हो-न-हो इसकी माता का नाम तारा है लेकिन न मालूम वह कहां रहती है। यदि किसी को मालूम हो तो बेचारी को खबर कर दो जिससे अपने पुत्र का अंतिम बार मुख तो देख ले। इतने में एक ने बताया कि अमुक ब्राह्मण के यहां तारा नाम की दासी है। इस बालक को भी उसी के यहां देखा है। शायद यह बालक उसी तारा का हो। यह बहुत थोड़ी देर का मेहमान है। बेचारी को खबर कर दो।

यह सुनकर आस-पास भीड़ में खड़े हुए कुछ बालक खबर देने के लिए उस ब्राह्मण के घर की ओर दौड़ पड़े जहां तारा रहती थी।

२४. शोकार्त तारा

दौडते-दौडते वालकगण जव ब्राह्मण के घर पहुचे तो उस समय तारा रोहित की ही चिन्ता कर रही थी । प्रतिदिन के समय से वहुत अधिक समय व्यतीत हो जाने पर भी उसके न आने से तारा विकल थी। वे मन ही-मन अनेक प्रकार के सकल्प-विल्प कर रही थी । इतने मे वालको ने तारा के निकट पहुँचकर कहा कि तुम्हारा पुत्र तुम्हे पुकारते-पुकारते मूर्छित होकर गिर पडा है ।

तारा ने घवराकर पूछा— कहा ? मैं तो उसकी वहुत देर से प्रतीक्षा कर रही हूं ।

वालक— है तो दुःखद समाचार और उसके सुनने से तुम्हें दुःख ही होगा । परन्तु न सुनाने से तो नुकसान ही है । इसलिए सुनाए देते हैं । तुम्हारे वालक को जगल में पेड पर चढते हुए सर्प ने डस लिया है और बेहोश होकर पडा है । कही शायद हमारे यहा तक पहुचने से पहले ही उसने अपनी ससार-यात्रा समाप्त न कर दी हो ?

मनुष्य और सव दु खो को सहन कर सकते हैं, परन्तु सततिवियोग का दु ख उन्हे असह्य हो उठता है । कई सतानो के होने पर भी जव किसी एक के वियोग का दु ख सहन करने मे भी उनका धैर्य छूट जाता है तो जिसके एक ही सत न हो और उसका भी वियोग हो जाए तो धैर्य का छूट जाना स्वाभाविक है ।

वालको ने तारा को यह समाचार नही सुनाया था वरन उन पर वज्रप्रहार ही किया था । समाचार सुनते ही तारा इतनी अधिक अधीर हो उठी कि तत्क्षण मूर्छित हो गई । लेकिन अभी भी उन्हें पुत्र-वियोग

के दुःख को सहकर अपने सत्य की परीक्षा देना शेष था अतः यह मूर्च्छा-वस्था भी अधिक देर तक न रह सकी।

रोहित तारा का एक मात्र पुत्र था। उसी के सहारे वे अपने मैं दिन व्यतीत कर रही थीं उसी को देखकर वे प्रसन्न रहती थीं और उससे सुन्दर भविष्य की आशा रखती थी। परन्तु दुष्ट दैव ने तारा से उनका यह सहारा भी यह रत्न भी छीन लिया। तारा के हृदय पर इसका कैसा आघात हुआ होगा यह तो अनुमान से ही जाना जा सकता है।

जिस समय तारा मूर्च्छित पड़ी थीं और आस-पास बालक उनको घेरे खड़े थे तो उसी समय ब्राह्मण भी वहां आ गया। उसने बालकों से पूछा— क्या बात है? बालकों ने सब वृत्तान्त सुनाकर कहा कि इस समाचार को सुनते ही यह मूर्च्छित होकर गिर पड़ी है। ब्राह्मण ने विचार किया कि लड़का तो मर ही चुका है, परन्तु कहीं उसी के दुःख में यह भी न मर जाए। नहीं तो मेरी पाँचसौ स्वर्ण-मुद्राएं मों ही डूब जाएंगी। यह सोचकर ब्राह्मण ने तारा को होश में लाने के लिए उनके मुख पर ठंडे पानी के छींटे मारे। होश में आते ही तारा रोहित रोहित कहते हुए पुनः विलाप करने लगीं।

इस पर तारा को ताड़ना करते हुए ब्राह्मण बड़बड़ाने लगा— जब मैं कहता था कि अपने बालक को कहीं जाने न दे तब तो मेरी बात पर ध्यान नहीं दिया और अब उसके लिए विलाप करती है। अब क्या तू भी रो-रोकर उसके साथ अपने प्राण देगी और मेरी मुद्राएं डुबोएगी? जा और उसका जो कुछ भी करना हो, सो करके जल्दी वापस आ।

ब्राह्मण के इन क्रूर शब्दों से दुःखित तारा के हृदय को कैसी चोट पहुँची होगी इस बात को प्रत्येक सहृदय व्यक्ति समझ सकता है। लेकिन अपनी विवशता में उन्हें चुप रहने के सिवाय तारा और क्या कर सकती थीं? फिर भी तारा ने अपने मन में ब्राह्मण को धन्यवाद ही दिया कि चलो-ये कम बिना मांगे इन्होंने पुत्र का अंतिम-संस्कार करने के लिए मुझे समय तो दिया।

ससार का यह अटल नियम है कि या तो दु ख सहानुभूति से कम होता है या ताडना से। कही-कही दोनो से दु ख बढ भी जाता है, किन्तु अधिकतर कम ही होता है। ब्राह्मण की ताडना से तारा एक क्षण के लिए अपना दु ख भूल-सी गई। उन्होंने धैर्य धारण करके ब्राह्मण से कहा— पिताजी जो होना था सो हुआ, परन्तु अब मैं अकेली अबला वहा जाकर क्या कर सकू गी! इसलिए दया करके या तो आप साथ चलिए या किसी और को साथ भेज दीजिए, जिसमे यदि कोई उपचार किया जा सकता हो तो कर सकें।

परिस्थिति को देखते हुए तारा के इन शब्दो का एक सहृदय मनुष्य पर बडा अच्छा प्रभाव पड सकता था, किन्तु उस हृदयहीन ब्राह्मण ने तो उल्टे तारा को फटकारते हुए कहा— वह तो मर ही चुका है, अब उस मरे हुए का क्या करना है? वन के मरे को गाव या घर मे तो लाना नही है, फिर तेरे साथ हम कहा-कहा घूमते फिरेंगे। जा, जल्दी जा। देर मत कर और उसकी अन्त्येष्ठि कर जल्दी आ जा, देर मत करना।

जिन तारा की सेवा में सदैव सैकडो सेवक-सेविकाए उपस्थित रहती थी, जिनके मुख से बात निकलते ही काम होता था, जो स्वय दूसरे को दु ख मे सहायता किया करती थी, उन्ही तारा को आज ऐसा उत्तर सुनने को मिला और वह भी उस समय जबकि उनका प्रिय पुत्र मरा हुआ पडा था। लेकिन तारा इस उत्तर से उतनी दु खित नही हुई, जितना दु ख उन्हें पुत्र का था। उन्होने ब्राह्मण की तरफ से निराश होकर बालको से कहा— भाइयो चलो, चलकर दिखा दो कि वह कहाँ पडा है। बालको ने तारा की बात मान ली और वे विलाप करती हुई उन बालको के साथ उस ओर चल पड़ी, जहाँ रोहित मरा पडा था।

बालको ने दूर से ही तारा को रोहित का शव दिखला दिया। तारा ने दौडकर उसके शव को छाती से चिपका लिया और विलख-विलख कर रोने लगी।

रोहित के शव को गोद में लेकर विलाप करती हुई तारा कहने लगी— रोहित ! बेटा रोहित तुम किस नींद में सोए हो । उठो अपनी अभागिनी माता को तो देखो जो तुम्हारे लिए रो रही है । चुपचाप क्यों पड़े हो ? तुम तो सदा अपनी माता से अनेक प्रकार की बातें करके दुःखों को दूर कर दिया करते थे आश्वासन दिया करते थे फिर आज क्यों निष्ठुर बन गए हो ? बेटा रोहित ! क्या यह सोने का समय है ? क्या यह समय अपनी माता को छोड़ने का है ? फिर क्यों पड़े हो ? तुम्हारी सूरत तो वैसी ही है जैसी मेरी गोद में सोने पर रहा करती थी फिर आज बोलते क्यों नहीं हो ? क्या अपनी माँ से रूठ गए हो ? अब मेरा कौन है जो मुझे आश्वासन देगा ? तुम तो कहा करते थे कि मैं बड़ा होकर तुम्हें मुक्त कराऊंगा और पिताजी को भी खोज लाऊंगा परन्तु आज बोलते तक नहीं हो ? अब तक तो आशा थी कि बड़े होकर तुम अपने माता पिता को दुःख मुक्त करोगे परन्तु अब कौन यह आशा पूरी करेगा ? अब कौन माँ-माँ कहकर पुकारेगा ? मैं किसको बेटा कहूंगी ? अब कौन मेरे आंसू पोंछकर अपनी तोतली बातों से मुझे हंसाएगा ! अब मैं किसे देखकर अपनी आँखें ठंडी करूंगी और दुःख को भूलूंगी ? भूखे रहने पर भी तुमने मुझसे कभी भी नहीं कहा कि भूख लगी है और न बिना मुझे साथ लिए खाया । परन्तु अब तो कोई मेरी बात पूछने वाला भी नहीं रहा । बेटा रोहित ! मैंने तुम्हारे पिता के पुत्र-रत्न को खो दिया है । जब वे तुम्हारे बारे में पूछेंगे तो मैं उन्हें क्या उत्तर दूंगी ? मैं कैसे कह सकूंगी कि आपका जीवन-धन और सूर्यवंश का एकमात्र रत्न अब संसार में नहीं रहा है । वत्स रोहित ! क्या मैंने इसी दिन के लिए तुम्हें पाला था ? क्या दुष्ट सर्प के लिए तुम्हीं डसने योग्य थे । वह दुष्ट बदले में मुझे डस लेता । मुझे उसने किस दुःख के लिए छोड़ रखा है ? मेरे प्राण ! तुम इस शरीर में किस आशा से ठहरे हुए हो । क्या अभी दुःख और दुःख देखना शेष है जिसके लिए तुम ठहरे हुए हो ! इस दुःख से बढ़कर और कौन-सा दुःख है जिसे अभी और सहना है । फिर तुम इस शरीर को

क्यो नही छोडते ? इस भीषण दु ख से छुटकारा क्यो नही लेते ? चलो, तुम भी वही चलो, जहा रोहित गया है। मैंने सत्य के लिए सब दु ख सहे, लेकिन यह मेरे लिए असह्य है। जहा मेरा रोहित गया है, बस वही मुझे भी ले चलो, मैं वहा अवश्य जाऊगी। अब इस ससार मे किस आशा से रहू ? पुत्र की आशा से ही अब तक सब कष्ट सहते रहे, लेकिन आज तो यह आशा भी नही रही। मेरे लिए तो आज सारा ससार सूना है, अब मुझे इस ससार मे रहने की क्या आवश्यकता है ?

इस प्रकार विलाप करते-करते तारा मूर्छित हो गई।

तारा के इस करुण-क्रदन को सुनकर आस-पास के बहुत से लोग एकत्रित हो गए और इस हृदय-विदारक विलाप को सुनकर उन लोगो के भी आसू बहने लगे। सब लोग तारा से सहानुभूति प्रगट करने लगे। वन के पशु-पक्षियो तक ने भी खाना-पीना, चहकना छोड दिया और तारा का अनुकरण करने लगे। यह सब कुछ तो हुआ, परन्तु रोहित जीवित न हो सका।

लेकिन तारा की यह मूर्च्छा अधिक समय तक न रह सकी और पुन होश मे आने पर तारा उसी प्रकार विलाप करने लगी कि इतने मे एक सज्जन आए।

सज्जनो की वाणी मे न मालूम ऐसी कौन-सी शक्ति है कि ससार के कठिन-से-कठिन दु ख को भी बात की-बात मे कम कर देती है। दु ख मे सुख, निराशा मे आशा और विपत्ति मे सपत्ति का सचार कर देना ही सज्जनो की विशेषता है।

तारा को सम्बोधित करते हुए वे सज्जन बोले— देवी तारा। पुत्र-शोक से विह्वल होकर यदि कोई दूसरी स्त्री रोती तो इसमे कोई आश्चय की बात न थी, परन्तु तुम्हारे समान सत्य-धारिणी भी विकल हो, यह आश्चर्य की बात है। यदि तुम भी अधीर हो जाओगी तो फिर दूसरा कोई कैसे धैर्य रख सकता है ? यह शरीर, जिसको लिए तुम बैठी हो और विलाप कर रही हो, अनित्य है, क्षणभगुर है। फिर तुम शोक

किसके लिए कर रही हो ? इस शरीर से जितना भी सुकृत्य हो जाए, वही अच्छा है। इस बालक के जीवन का अंत वीरों की तरह हुआ है और तुमने भी सत्य को इसी प्रकार पाला है कि आज सारे संसार में तुम्हारी कीर्ति व्याप्त है। अब क्या पुत्र-शोक से व्यथित होकर अपने उस सत्य धर्म को छोड़ना चाहती हो। जिस सत्य के लिए तुमने राजपाट छोड़ा जिस सत्य के लिए तुमने मजदूरी की जिस सत्य के लिए बिककर दासीपना किया क्या उस सत्य को अब पुत्रशोक से कातर होकर छोड़ दोगी ? याद रखो कि तुम बिकी हुई हो तुमको उस ब्राह्मण ने पांचसौ स्वर्ण मुद्राएं देकर मोल लिया है। यदि तुम पुत्रशोक से ऐसी कातर होकर अपने प्राण त्याग दोगी तो क्या उस ब्राह्मण के साथ विश्वासघात होगा नहीं कहलाएगा और तुम अपने धर्म से पतित हुई नहीं कहलाओगी ? भद्रे ! तुम मरने के लिए भी स्वतन्त्र नहीं हो। अतः अपने मरने के विचार का परित्याग करो और कातरता छोड़कर अपने धर्म पर ध्यान दो। तुम्हें तुम्हारे मालिक ने कुछ समय का ही अवकाश दिया है। यदि उसको विलाप में व्यतीत कर दोगी तो फिर तुम स्वामी आज्ञा के उल्लंघन की पातकिन हो जाओगी। इस लिए धैर्य धारण करके पुत्र की अंत्येष्टि-क्रिया करने का विचार करो। और क्षत्राणी अपने वीर पुत्र के लिए कभी कातर नहीं होती है उसमें भी तुम सूर्यवंश की कुलवधू हो धर्मवीर महाराज हरिश्चन्द्र की धर्मपत्नी हो और रोहित जैसे वीर और स्वतन्त्रता-प्रिय बालक की माता हो। तुम्हें इस प्रकार शोक करना शोभा नहीं देता है। इसके सिवाय शोक करने से कष्ट का निवारण नहीं हो सकता मिट नहीं सकता तो फिर शोक करने से ही क्या काम ? अतः वीर क्षत्राणी की तरह धैर्य धारण करके अपने कर्तव्य का विचार करो।

सज्जन के इस उपदेश ने तारा के हृदय में बिजली का-सा असर किया। वे आश्चर्य विचार करने लगीं कि ये सज्जन मुझे कैसे पहचानते हैं ? इन्होंने जितनी भी बातें कही हैं उनसे स्पष्ट है कि ये मुझसे अच्छी तरह परिचित हैं। इनका उपदेश भी उचित है। वास्तव में मैं दूसरे के

यहा दासी हू । बिना खरीददार की आज्ञा के मैं थोडा-सा भी समय नही बिता सकती हू, तो मरने के लिए कैसे स्वतन्त्र कही जा सकती हू ? जिस सत्य की अब तक रक्षा की है, वह मेरे आत्मघात करने पर कदापि नही बच सकता है। अब तो मेरा यही कर्तव्य है कि रोहित की अपेक्षा सत्य को अधिक समझकर रोहित की चिन्ता न करू और वही कार्य करू, जिसके करने से सत्य की रक्षा हो।

सज्जन के समझाने से तारा का मन स्वस्थ हुआ। उन्होंने अपने हृदय के दु ख को दबाकर रोहित की अत्येष्ठि-क्रिया करने का विचार किया। लेकिन उन्हे फिर ध्यान आया कि बिना किसी की सहायता के मैं अकेली स्त्री क्या कर सकू गी ? कहा श्मशान है, अत्येष्ठि-क्रिया कैसे की जाती है, आदि बातो से भी मैं अनभिज्ञ हू, अत यदि इन सज्जन की सहायता मिल जाए तो मेरा यह कार्य अच्छी तरह से हो जाएगा।

तारा अपने मन मे ऐसा विचार कर ही रही थी कि उस दुष्ट देव ने यहा भी तारा का पीछा न छोडा। उसकी माया के प्रभाव से तारा के आसपास खडे हुए लोग अपनी-अपनी ओर चल दिए। तारा के आवाज देने पर भी किसी ने ध्यान नही दिया और तारा अकेली ही रह गई।

तारा के विलाप करने और उन सज्जन के समझाने मे ही सध्या हो गई थी। अमावस्या की काली रात्रि अपना भयकर अधकार फैलाती जा रही थी। सियार, उल्लू, भेडिये आदि अपने-अपने भयावने शब्द सुना रहे थे। आकाश मे घने काले बादल छा रहे थे। ऐसी विकराल भयानक और अधेरी रात मे वन के बीच तारा अपने मृतपुत्र को लिए हुए अकेली बैठी थी। प्रार्थना करने पर भी समीप के लोगों के चले जाने से तारा को होने वाले दु ख की बात अनुमान से ही जानी जा सकती है।

तारा की इस विपदावस्था की ओर ससार के स्त्री-पुरुषो का ध्यान आकर्षित करते हुए बुद्धिमान कहते हैं— ए ससार के स्त्री-पुरुषो ! तुम्हे धन, जन, रूप, यौवन आदि का अभिमान हो तो तुम तारा की ओर देखो। तारा अपने समय के धनवानो, रूपवानो, युवावस्था-सम्पन्नो और बुद्धिमानो

में एक ही थीं। लेकिन जब उन पर भी विपत्ति पड़ी तो तुम किन कारणों से इन नाशवान वस्तुओं पर गर्व करते हो। जो तारा कुछ दिन पहले एक विशाल राज्य की रानी थीं और रोहित राजकुमार था एवं लाखों मनुष्य जिनकी रक्षा के लिए तैयार रहते थे आज वही राजकुमार वन के बीच मरा पड़ा है और वही रानी अकेली पास बैठी दुःखित हो रही है। इस समय उन्हें कोई आश्वासन देने वाला तक नहीं है और न मृत देह का अग्नि-संस्कार करने के लिए उनके पास एक पैसा भी है। बल्कि ऐसा कोई सहायक मनुष्य तक नहीं है जो रोहित के शव को श्मशान तक पहुंचा दे या तारा को उसका मार्ग ही बतला दे। अतः यह ध्यान रखो कि आज तुम जिस धन पर गर्व करते हो वह धन स्थायी नहीं अस्थायी है। फिर क्यों उसके लिये अन्याय करते हो ? क्यों उससे मोह करते हो और क्यों संसार में उसे ही उत्कृष्ट वस्तु समझते हो ? धन का होना तभी अच्छा है जब उससे किसी प्रकार का सुकृत्य कर लिया जाए। अन्यथा सिवाय पश्चात्ताप के कुछ शेष नहीं रहता है। हरिश्चन्द्र का राज्य यदि किसी दूसरे राजा की चढ़ाई के कारण चला जाता तो उन्हें पश्चात्ताप होता कि मैंने अपने राज्य का कोई सदुपयोग नहीं किया लेकिन उन्होंने तो उसे दान में दिया था इससे उन्हें आत्मिक संतोष था। सारांश यह कि अभिमान बुरा है, किसी वस्तु पर अभिमान न करके यदि उससे कोई सुकृत्य कर लिया जाए तो अच्छा है।

वन के बीच भयानक अंधेरी रात में तारा शव की अन्त्येष्टि-क्रिया की चिन्ता में बैठी थीं। उन्हें श्मशान का मार्ग भी मालूम नहीं था। वहीदत्तार ब्राह्मण भी इतना निष्ठुर निकला कि न तो तारा को इस दुःख के समय सहायता देने वह स्वयं ही साथ आया और न किसी को साथ भेजा। यद्यपि लोक-व्यवहार के अनुसार श्मशान भूमि तक साथ देना उसका कर्तव्य था परन्तु उसने इसकी भी उपेक्षा कर दी और शव का अग्नि-संस्कार करने के लिए एक टका न दिया जिसे देकर तारा उसका अग्नि-संस्कार कर

पाती ऐसे समय मे तारा के हृदय मे क्या-क्या भावनाए उत्पन्न हुई होगी, यह कौन कह सकता है ?

लेकिन तारा क्षत्राणी थी। विपत्तियो को सहन करने मे अभ्यस्त हो चुकी थी और सज्जन के समझाने ने भी उन्हे धैर्य ही दिया था एव अपने कर्तव्य को समझ चुकी थी। इसलिए उन्होने साहस करके रोहित के शव को कधे पर उठा लिया और जिस ओर मृतको के शवो को ले जाते देखा, उसी ओर चल दी।

शव को लिये हुए, लडखडाती और ठोकरें खाती हुई तारा गलियो मे होकर श्मशान के निकट आ पहुची। परन्तु अग्नि-सस्कार के लिए ईंधन की चिन्ता से तारा का हृदय अधीर हो उठा और वे पुत्र के शव को जमीन पर रखकर पुन विलाप करने लगी कि हाय बेटा! तुम एक विशाल राज्य के भावी स्वामी माने जाते थे, परन्तु आज तुम्हारा कोई सहायक भी नही है! और-तो-और, आज तुम्हारी अन्त्येष्ठि के लिए ईंधन भी नही जुट रहा है! इस अभागिनी माता को न मालूम किन पाप कर्मों के फलस्वरूप अपने पुत्र की यह दशा देखनी पड रही है।

तारा इसी प्रकार की अनेक बातें कहती हुई विलाप कर रही थी। उनके हृदय-विदारक विलाप को सुनकर गीदडो ने भी अपना स्वर बद कर दिया। इस विपत्ति के समय मे तारा के हृदय की होने वाली दशा को प्रत्येक सहृदय मनुष्य अनुमान से जान सकता है। लेकिन इस कष्ट मे भी तारा को अपने धर्म का विचार था। धर्म के विचार ने ही वन में उन्हें पुत्र-शोक से छुडाया था और कर्तव्य-मार्ग बतलाया था।

२५ हमें सहना ही होगा

अमावस्या की घनघोर काली रात्रि थी और उसमें भी आकाश में चारों ओर मेघ की घटाएं घिर रही थीं। एक भी तारा दिखाई नहीं देता था। निबिड़ अंधकार में सारा श्मशान सांय-सांय कर रहा था। बुझती चिताओं का प्रकाश अंधकार को और भी भयानक बना रहा था। स्थान-स्थान पर नर-कपाल और अस्थियां बिखरी पड़ी थीं। चारों ओर सन्नाटा था लेकिन बीच-बीच में गीदड़ों के बीभत्स शब्द एवं कुत्तों की गुर गुराहट कभी-कभी अवश्य सुनाई दे जाती थी। परन्तु ऐसे समय में भी लंगोटा कसे और लंबा-ऊंचा डीलडौल वाला एक पुरुष हाथ में लट्ठ लिए इधर-उधर चक्कर लगा रहा था। चिताओं के धुएं से जिसका शरीर काला-सा पड़ गया था। जिसके सिर और दाढ़ी के बढ़े हुए रूखे बाल थे। यह और कोई नहीं हमारे पूर्व परिचित महाराजा हरिश्चन्द्र थे जो अकेले ही अपने मालिक की आज्ञा से श्मशान की रखवाली कर रहे थे।

हरिश्चन्द्र एकाकी ही इधर-उधर चक्कर लगाते हुए कह रहे थे— आह! इस देह का अंतिम परिणाम भी कैसा भीषण है। या तो यह जलकर राख हो जाती है या फिर चील-कौवों और कुत्तों गीदड़ों आदि का भोजन बनती है। कभी जो कांति अत्यंत सुन्दर दीख पड़ती है और जिस पर यह मनुष्य अभिमान करता है वही कांति चिता में जलकर नष्ट हो जाती है। न मालूम कितने मनुष्य अपने जीवन की बड़ी-बड़ी आशाओं को अधूरी छोड़ यहां आकर गुजर जाते हैं। दीन-से-दीन और सम्पन्न-से सम्पन्न आने जाने वालों के लिए यही एक अंतिम स्थान है। ऐसा होने पर भी संसार के लोग इस शरीर की अनित्यता का विचार नहीं करते हैं। सैकड़ों आदमी अपने प्रिय-से-प्रिय स्वजन को यहां लाकर फूंक जाते हैं वे रोते हैं उनके हृदय में वैराग्य का संचार भी होता है लेकिन उतनी

ही देर जब तक चिता की आग बुझ नही जाती है। उसके बाद वही हास्य-विलास, वही कल्पनाओ का दौर-दौरा चलने लगता है। एक दिन में ही सब कुछ भूल जाते हैं। यह विचारने की भी आवश्यकता नही समझते कि जिस तरह मैं अपने प्रिय पुत्र, मित्र या भाई के शरीर को जलाकर भस्म कर आया हू, उसी तरह एक दिन मेरा भी अतिम शयन चिता पर होगा और मुझे भी दूसरे लोग इसी तरह भस्म कर देंगे।

श्मशान-भूमि मे आने पर मनुष्य के हृदय मे जो भावनाए उत्पन्न होती हैं, यदि उनको ही सदैव बनाए रखे तो मनुष्य इस नश्वर शरीर से अनेक प्रकार के सुकृत्य कर सकता है।

श्मशान! तुम मनुष्य को कितनी उत्तम शिक्षा देते हो। यदि मनुष्य सदा के लिए उसको ग्रहण कर ले तो वह जीवन-मुक्त हो जाए। तुम्हारी गभीरता अपूर्व है। न जाने कितने दुखियो के गर्म-गर्म आसुओ और उनके हाहाकार आदि को सहज ही सहते रहते हो। तुम्हारे हृदय मे एक चाडाल को भी वही स्थान प्राप्त है जो एक राजा को। राजा हो या प्रजा, ब्राह्मण हो या चाडाल, कोढी हो या दिव्य शरीरधारी, तुम्हारे लिए सभी समान है। तुम्हारा किसी से भी भेदभाव नही है। यदि मनुष्य भी तुम्हारे समान समदृष्टि बन जाए तो फिर उसे ससार मे जन्म धारण करने की आवश्यकता ही न रह जाए। परन्तु चेतना-शक्ति सम्पन्न होने पर भी मनुष्य इस ओर ध्यान नही देता है। इसी कारण उसे पुन-पुन तुम्हारी शरण मे आना पडता है।

हरिश्चन्द्र इस प्रकार के हृदयोद्गार व्यक्त करते हुए इधर-उधर चक्कर लगा रहे थे कि सहसा किसी स्त्री का करुण क्रदन कानों मे पड़ा। वे विचारने लगे कि इस अधेरी रात मे यहा आकर रोने वाली यह कौन है? वे उस ओर चल दिए जहा से आवाज आ रही थी। हरिश्चन्द्र ने स्त्री के निकट जाकर पूछा— भद्रे! तुम कौन हो जो इस भयावनी रात्रि मे अकेली बैठी रो रही हो?

मनुष्य का शब्द सुनते ही तारा चौंक पड़ी। अपने सामने एक विशालकाय भयंकर पुरुष को हाथ में लट्ठ लिये हुए खड़ा देख तारा कुछ सहमी। वे भयभीत हो विचारने लगी कि इस रात्रि के समय यम दूत-सा यह कौन आकर खड़ा हो गया है ? तारा ने साहस बटोर कर उससे पूछा—कौन हो तुम जो इस भयावनी रात्रि में एक असहाय अकेली और दुखिया स्त्री के सामने आकर खड़े हो गए हो ? क्या तुम यमदूत हो ? क्या मेरे बालक को मेरी गोदी से छीनने के लिए आए हो ? परन्तु तुम्हारी क्या मजाल जो मेरे रहते मेरे बालक को ले जाओ। मैं अपनी गोद कदापि सूनी न होने दूंगी। अपने प्रत्येक संभव उपाय से अपने बालक की रक्षा करूंगी।

स्त्री की ऐसी बातें सुन हरिश्चन्द्र आश्चर्य चकित होकर विचारने लगे कि यह कौन है जो अभी तो रो रही थी और अब ऐसी साहसी बन गई है ? उन्होंने कहा— देवी ! तुम्हारे जैसा ही मैं भी भाग्य का मारा हुआ इन्सान हूं। मैं यमदूत नहीं बल्कि मनुष्य हूं और इस श्मशान की रक्षा करता हूं। क्या तुम इस मरे हुए बालक के लिए रो रही हो ? लेकिन इसके लिए तुम्हारा शोक करना वृथा है। संसार में जो आता है उसे निश्चित ही इस मार्ग से जाना पड़ता है। यह एक अटल नियम है। यहां रहते हुए नित्य ऐसी घटनाओं को देखते-देखते मेरा हृदय वज्र हो गया कि अब यह कभी भी द्रवित नहीं होता है। मेरे देखते-देखते इस श्मशान में हजारों मनुष्य जल चुके हैं जिनमें बालक युवा और वृद्ध सभी आयु के हैं। अतः लाओ इसे भी जला दें। बादल उमड़ रहे हैं और यदि वर्षा हो गई तो लकड़ियों के भलीभांति न जल पाने से तुम्हारा यह बालक भी अधजला रह जाएगा।

बोली सुनकर तारा विचार में पड़ गई कि यह है कौन ? इसका स्वर तो परिचित-सा जान पड़ता है। तारा इस प्रकार मन में विचार कर ही रही थी कि बिजली चमक उठी। उसके उजाले में उस मनुष्य का मुख देखकर तारा ने अनुमान लगा लिया कि यद्यपि यह पुरुष है तो दीन

वेश मे, लेकिन आकृति सज्जनता की सूचक है। निश्चय ही यह कोई सज्जन पुरुष है। तारा ऐसा सोचकर उस पुरुष से कहने लगी— महाशय, आप बातचीत मे तो बहुत सज्जन मालूम पडते हैं, लेकिन कही आप कोई देव तो नही हैं जो इस रात्रि के समय मेरी परीक्षा लेने या मेरी कुछ सहायता करने आए हो ? यदि ऐसा है तो कृपा कर मेरे पुत्र को जीवित कर दीजिए। मैं जीवन भर आपका आभार मानूगी और धन्यवाद दूगी।

हरिश्चन्द्र— मैं पहले ही कह चुका हू कि मैं मनुष्य हू और इस श्मशान-भूमि की रक्षा करता हू। मेरे देव होने का अनुमान लगाना तो बिल्कुल गलत है।

तारा— यदि आप मनुष्य ही हैं तो कृपा कर के मेरे पुत्र का सर्प-विष उतार दीजिए। मैंने सुन रखा है कि सर्प के काटे हुए मनुष्य के प्राण शीघ्र नही निकलते और कई लोग सर्प का विष मत्र द्वारा उतार देते हैं। यदि इस दुखिया के पुत्र को जीवित कर दें तो बडी कृपा होगी।

हरिश्चन्द्र— मैं विष उतारना भी नही जानता और न अब तुम्हारा यह मृत पुत्र जीवित ही हो सकता है। इस प्रकार की अनावश्यक बातचीत मे समय बीत रहा है और फिर कही वर्षा हो गई तो शव को जलाने मे कठिनाई होगी। इसलिए लाओ, इसे जला दें। बातचीत से लाभ नही, किन्तु हानि ही है।

तारा और हरिश्चन्द्र दोनो एक-दूसरे के स्वर को सुनकर मन मे विचारते थे कि यह स्वर तो सुना-जैसा है परन्तु ससार में एक ही स्वर के अनेक मनुष्य हो सकते हैं, इसलिए दोनो मे से कोई भी एक-दूसरे से कुछ नही पूछता था। उस मनुष्य की अतिम बात सुनकर तारा को अपने पुत्र की ओर से निराशा हो गई। उन्होने कहा— यदि ऐसा ही मेरा दुर्भाग्य है, यदि मैं अपने पुत्र को किसी प्रकार भी पुनर्जीवित नही देख सकती और तुम्हारी इच्छा इसे जला देने की ही है तो लो, जला दो इसे।

हरिश्चन्द्र— यहाँ शव जलाने में खर्च होने वाले ईंधन के मूल्य स्वरूप एक टका कर देना पड़ता है। सो तुम भी कर लाओ तब तुम्हारा पुत्र जलाया जा सकेगा।

तारा— मेरे पास एक टका तो क्या एक कौड़ी भी नहीं है जो तुम्हें दे सकूं। मुझ पर दया कर, इसको बिना कर लिए ही जला दीजिए।

समय ! तेरी गति बड़ी विचित्र है। तू संसार के प्राणियों की स्थिति गाड़ी के पहिए की तरह घुमाया करता है। जो रानी नित्य हजारों का दान करती थी वही आज एक टके के लिए दया की भीख मांग रही है। यह तेरी ही महिमा है कि जो आज धनवान दिखाई देता है, वही कल दर-दर की भीख मांगता नजर आता है। ऐसा देखते हुए भी संसारी जन तेरी इज्जत नहीं करते और तेरी सदा उपेक्षा किया करते हैं।

तारा की बात को सुनकर हरिश्चन्द्र ने कहा— मैंने अनेक स्त्री-पुरुषों को शव लेकर आते देखा है परन्तु तुम्हीं एक ऐसी विचित्र स्त्री दिखलाई पड़ीं जो शव को जलाने के लिए एक टका भी न देकर दया की भीख मांग रही हो ! क्या तुम्हारा ऐसा कोई भी साथी नहीं जो तुम्हें एक टका दे देता ? क्या तुम विधवा हो ?

तारा— महाशय ! ऐसा न बोलिए।

हरिश्चन्द्र— तो क्या तुम्हारा पति इतना निष्ठुर है जो न तो तुम्हारे साथ ही आया और न कर का एक टका ही तुम्हें दिया ? उस पति को धिक्कार है जो ऐसे समय में भी अपनी पत्नी की सहायता नहीं करता। जो लोग अपनी पत्नी की सहायता नहीं कर सकते तो फिर वे किसी स्त्री के पति क्यों बन जाते हैं और क्यों पति नाम को लजाते हैं ?

हरिश्चन्द्र की इस बात को सुनकर तारा को बहुत ही दुःख हुआ। वे मन-ही-मन कहने लगीं— हाय जो बात आज तक भी न हुई थी वह आज हो गई है। जिन कानों ने विश्वामित्र जैसे ऋषि से भी पति की निंदा नहीं सुनी थी वे ही आज पति की निंदा सुन रहे हैं। शायद यह पुरुष मेरे पति की महिमा से अपरिचित है इसीलिए ऐसे अविवेक शब्दों का प्रयोग

कर रहा है। यदि यह जानता होता तो ऐसा बोलने का साहस कभी नही कर सकता था। फिर उस मनुष्य से बोली— कृपा कर आप मेरे पति की निंदा न कीजिए। शायद आपको मालूम नही कि मेरे पति कैसे हैं और किस कारण मुझसे पृथक् हुए हैं। मेरे पति न तो निष्ठुर हैं और न निर्दयी। वे बडे ही दयालु हैं। सत्य की रक्षा के लिए उन्होने अपने सब सुखो का त्याग कर घोर कष्ट उठाना स्वीकार किया है। मैं उन्हे आखो की पुतली के समान और यह पुत्र उन पुतलियो के तारे के समान प्रिय है। परन्तु धर्म-पालन के लिए हमे त्याग कर इस समय हमसे दूर हैं।

तारा की बात सुनकर हरिश्चन्द्र विचारने लगे कि ये बातें तो मुझ पर ही घटित हो रही हैं। स्वर भी तारा के स्वर-सा प्रतीत होता है। तो क्या यह तारा है ? क्या आज उस पर ऐसी विपत्ति आ पडी है ? नही, नही, ऐसा होना सभव नही है। उन्होने पूछा — क्या स्त्री-पुत्र और राज्य का त्यागी तुम्हारा पति सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र है ? क्या तुम उसकी पतिव्रता पत्नी तारा हो ?

इस बात को सुनकर तारा को आश्चर्य हुआ कि यह कौन है जो मेरे और मेरे पति के बारे मे सब कुछ जानता है। अभी वह ऐसा विचार कर ही रही थी कि मेघाच्छन्न आकाश में पुन बिजली चमकी। जिसके प्रकाश मे दोनो ने एक-दूसरे को पहचान लिया।

ससार का नियम है कि दु ख के समय किसी स्वजन के मिलने पर जहा हर्ष होता है, वही दु ख भी उमड पडता है। ऐसे समय मे पति के मिल जाने से तारा को जहां हर्ष हुआ, वही रोहित के शोक ने उन्हे और भी झकझोर डाला। इसी प्रकार राजा भी तारा के मिलने से हर्षित होने के साथ-साथ ही रोहित की मृत्यु से दु खित हो गए। हाय ! आज रोहित चल बसा ! तारा की यह दशा !

राजा को पहचान कर तारा रोती-रोती उनके पास पहुँची और हिचकियो के बीच उनके मुख से नाथ, नाथ शब्द के अलावा और कुछ नही निकल सका। उधर राजा भी दु ख से अधीर हो उठे और मु ह

से तारा का नाम निकल पड़ा। दुःखावेश में दोनों विलाप करने लगे। रोते-रोते हिचकियां बंध गई।

राजा कहने लगे— हा रोहित! हा पुत्र! हा! तुम मुझे अकेला छोड़कर कहां चले गए? बेटा! मेरी वृद्धावस्था के सहारे! आंखों के तारे! हमें विपत्ति में छोड़कर कहां चल दिए! तुम्हारी आशा में अब तक हम अनेक विपत्तियों को सहते रहे परन्तु आज हम निराश हो गए हैं। पुत्र! क्या तुम्हारी मृत्यु का यही समय था? हा! कुसुमवत् यह सुकुमार देह आज स्थिर पड़ी है। आज कौन मुझसे पिता कहेगा? मुझे पिता कहने वाला कोई नहीं रहा। हाय! आज मैं निस्संतान हो गया! बेटा! उठो एक बार अपने पिता से तो कुछ बोलो! वत्स! इधर तो देखो तुम्हारे बिना हम कितने व्याकुल हैं उठो कुछ शांति तो दो!

राजा और रानी पुत्र-शोक में इतने विह्वल हो गए कि विलाप करते-करते उन्हें मूर्छा आ गई। लेकिन यह स्थिति अधिक समय तक न रह सकी और तत्काल ही वह शीतल-मंद पवन के झोकों से दूर हो गई एवं पुत्र-शोक के दुःख ने पुनः उन्हें घेर लिया और विलाप करने लगे।

विलाप करते-करते राजा कहने लगे— प्रिये तारा! अब हम लोग संसार में किस आशा से जीवित रहें? आज तक तो यह आशा थी कि रोहित बड़ा होकर हमारे दुःख दूर करेगा हमें दासत्व से मुक्त करेगा। परन्तु आज तो यह आशा भी टूट चुकी है। इसी रोहित के सहारे मैं प्रसन्नतापूर्वक भंगी का सेवक बना हुआ था और तुम ब्राह्मण के यहां दासीपना करती थीं परन्तु आज तो यह आशा का तार टूट गया है। अब हम लोगों को संसार में रहने से क्या लाभ है? क्यों दिन रात पुत्र-शोक के दुःख में जलें। इसलिए यही उचित है कि हम लोग भी प्राण त्यागकर रोहित का अनुकरण करें। लेकिन इससे पहले यह उचित है कि हम लोग अपने जीवन की आलोचना कर डालें कि उसमें कहीं किसी प्रकार की कोई भूल तो नहीं हुई है।

सासारिक मनुष्य जब दु ख से घबरा उठते हैं तो वे दु ख से मुक्त होने के लिये आत्मघात का उपाय विचारते हैं और समझते हैं कि ऐसा करने से हम दु ख-मुक्त हो जाएगे । इसी के अनुसार राजा और रानी ने भी आत्मघात करने का विचार किया और दोनो अपने-अपने जीवन की आलोचना करने लगे । आलोचना करते हुए राजा को ध्यान आया कि मैं अपनी छोटी-छोटी गलतियो की तो आलोचना कर रहा हू परन्तु उनमें जो सबसे महान भूल हो रही है, वह मुझे दिखाई ही नही देती है । मैं बिका हुआ हूँ, दूसरे का दास हू । मालिक ने मुझे श्मशान मे रहकर शव को लेकर आने वालो से कर वसूल करने के बाद अन्त्येष्ठि क्रिया करने देने की आज्ञा दे रखी है । तो फिर मुझे आत्मघात करने का क्या अधिकार है ? रानी भी दूसरे के यहा दासी है और उसे भी क्या अधिकार है जो वह मेरी आज्ञा मानकर आत्मघात करे ? इसके सिवाय आत्मघात करना घोर पाप है । इसलिए हमे दोनो प्रकार से शरीर नाश करने का अधिकार नही है । ओह ! आत्मघात और विश्वासघात ये दोनो ही महापाप हैं ।

मन मे यह विचार आते ही राजा खडे हो गए और तारा से कहने लगे— अभागिनी तारा ! हम लोग तो मरने के लिए भी स्वतत्र नही हैं । हम दोनो दूसरे के खरीदे हुए दास हैं । इस प्रकार दु ख से व्यथित होकर आत्मघात करना और खरीददारों को धोखा देना, अपना धर्म नही है । अतएव मरने का विचार त्याग कर धैर्य पूर्वक इस कष्ट को सहन करते हुए अपने अपने कर्तव्य पर दृढ़ रहे ।

पति की बात सुनकर तारा भी बोली—नाथ ! आप जैसे विचारो के कारण ही मैं रोहित की मृत्यु के समय भी प्राण-त्याग न कर सकी थी, अन्यथा अब तक तो मैं कभी की रोहित का अनुसरण कर चुकी होती । परन्तु दु.खावेश में पुन मुझे यह ध्यान न रहा और आपके साथ आत्मघात करने के लिए तैयार हो गई । लेकिन अच्छा हुआ कि आपके विचार में यह बात आ गई, जिससे हम लोग आत्मघात के पाप से भी बच गए और खरीददार के साथ विश्वासघात करने के विचार से भी ।

२६ अन्तिम कसौटी

राजा और रानी ने मरने का विचार तो त्याग दिया और अब पुनः उनके सामने रोहित के जलाने की समस्या आ खड़ी हुई। राजा कहने लगे— तारा जो होना था, सो तो हो चुका अब कर का एक टका दो जिससे रोहित का अग्नि-संस्कार कर सकें। मेरे मालिक की आज्ञा है कि बिना कर लिए शव को जलाने के लिए लकड़ी न दी जाए।

तारा— नाथ! आप कर किससे मांग रहे हैं? क्या दुःख के कारण आप अपने आपको भी भूल गए? यदि नहीं तो फिर मुझ से कर कैसे मांग रहे हैं? मैं आपकी अर्द्धांगिनी हूं और यह शव आपके प्राणों से भी अधिक प्रिय पुत्र रोहित का है। म मालूम मैं किन-किन कष्टों को सहन करते हुए इस शव को यहां तक ला पाई हूं और अब इसके पिता होने के कारण आपका कर्तव्य है कि आप इसका अंतिम-संस्कार करें। लेकिन उसकी जगह आप मुझसे ही कर मांग रहे हैं। नाथ! क्या आपसे कोई बात छिपी है जो आप मुझ से कर का एक टका मांगें यह कहां का न्याय है?

ऐसी विकट परिस्थिति में पड़कर साधारण जनों का धैर्य छूट जाता है परन्तु जो महापुरुष हैं वे कठिन-से-कठिन समय आने पर भी अपने धैर्य को नहीं छोड़ते हैं। इसीलिए कहा है—

कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्ते र्न शक्यते धैर्य गुणः प्रमाष्टुम्।
अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्ने र्नाधः शिखा याति कदापि देव॥

धैर्यवान पुरुष घोर दुःख पड़ने पर भी अपने धैर्य को नहीं छोड़ते। जैसे कि अग्नि को उलटी कर देने पर भी उसकी शिखा ऊपर को ही रहती है, नीचे की ओर नहीं जाती।

तारा की बात सुनकर भी हरिश्चन्द्र धैर्य से विचलित नही हुए और कहने लगे— तारा, तुम्हारा कथन अनुचित नही है, परन्तु यह तो बताओ कि तुम ब्राह्मण के यहा दासीपना क्यो कर रही हो ?

तारा— सत्य और धर्म की रक्षा के लिए।

हरिश्चन्द्र— तो फिर जिस सत्य की रक्षा के लिए राज्य छोडा, मजदूरी की, तुम ब्राह्मण के यहा दासी और मैं भगी के यहा दास बना एव जिस सत्य के लिए इतने कष्ट सहे, क्या उसको केवल एक टके के लिए चला जाने दें ? जब तुमने एक सहस्र स्वर्ण-मुद्राओ के समय धर्म छोडने को नही कहा, तो क्या उसी धर्म को केवल एक टके के वास्ते छोड देने के लिए कहती हो ? मुझे मेरे मालिक की आज्ञा है कि बिना कर लिए श्मशान की लकडी से किसी शव का अग्नि सस्कार न होने दिया जाए, तो फिर चाहे मेरा पुत्र हो या दूसरा, मैं बिना कर लिए कदापि लकडी नही लेने दूगा। ऐसी दशा मे मैं तुम्हारे या पुत्र के मोह मे पडकर बिना कर लिए कैसे अग्नि-सस्कार कर दू ? ऐसा करने से क्या धर्म नही जाएगा ? तुमने ही तो शिक्षा दी थी कि सत्य की प्राणपण से रक्षा करनी चाहिए और आज ऐसा कहती हो। तुम्हारी शिक्षा के कारण ससार का कोई भी पदार्थ मुझे सत्य से विचलित करने मे समर्थ नही हो सका। ये सासारिक पदार्थ अनित्य हैं और सत्य नित्य है। अत कोई भी बुद्धिमान नित्य को छोडकर अनित्य को अपनाने की मूर्खता नही कर सकता है। यदि इस समय मैं केवल एक टके के लिए कर्तव्य-विमुख हो जाऊ तो सत्य की रक्षा के लिए अब तक जो कष्ट सहे हैं, क्या वे निष्फल नहीं हो जाएगे ? कष्ट सहकर भी जिस सत्य की रक्षा की है और बडी-से-बडी विपत्ति मे भी जब हम लोग नहीं घबराए तो अब इस एक टके की बात से घबराकर सत्य को त्याग देना कैसे उचित होगा ? तारा! तुम्हारी रक्षा करना और पुत्र का अतिम-सस्कार करना मेरा कर्तव्य है, तथापि मैं विवश हूँ। कर वसूल किए बिना शव जलाने देने का मुझे कोई भी अधिकार नहीं है, इसलिए

बिना कर दिए जलाने की आज्ञा छोड़ो और उसके चुकाने का कोई-न-कोई उपाय करो।

कहाँ तो आज के वे लोग हैं जो थोड़े से लोभ में पड़कर दिन दहाड़े लोगों की आँखों में धूल झोंकते हैं और बात-बात में झूठी सौगन्धें खा-खाकर सत्य का त्याग करते हैं और कहाँ वे सत्यवादी महाराज हरिश्चन्द्र जो अपनी स्त्री पर भी दया कर के सत्य छोड़कर बिन कर दिए ही पुत्र को जलाने की स्वीकृति नहीं देते। कहाँ तो आज के वे लोग जो सच को झूठ और झूठ को सच बना देते हैं। मालिक तो क्या अपने ही स्त्री पुत्र और धर्म को भी धोखा देने में नहीं हिचकिचाते और कहाँ हरिश्चन्द्र हैं जो इस विपदावस्था में भी मालिक के उचित कर को नहीं छोड़ रहे हैं। इस अंतर का कारण केवल सत्य पर विश्वास न होना और होना है। आज के ऐसे लोग जिन्हें सत्य पर विश्वास नहीं है विचारते हैं कि यहाँ कौन देख रहा है? या हमारे झूठ को कौन समझ सकता है? परन्तु हरिश्चन्द्र को विश्वास था कि सत्य सर्वत्र व्यापक है, वह किसी समय भी छिपाने से नहीं छिप सकता और इसे छिपाने की चेष्टा करना भी पाप है।

आज की अधिकांश स्त्रियों के विचारानुसार हरिश्चन्द्र के उपर्युक्त कथन पर तारा को दुःख होना स्वाभाविक था। परन्तु तारा के विचार उनके विचारों से सर्वथा विपरीत थे। उन्हें सत्य उसी प्रकार प्रिय था जैसा कि हरिश्चन्द्र को था। वे महान-से-महान दुःख में भी अपने स्वार्थ के लिए पति से सत्य छोड़ने का आग्रह करना न जानती थीं।

पति की बात सुनकर तारा कहने लगी— आपका कथन यथार्थ है। किन्तु दुःख की अधिकता से मेरी बुद्धि अस्थिर थी इसलिए मैंने बिना कर दिए पुत्र का अग्नि-संस्कार करने की प्रार्थना की थी। मालिक की आज्ञा-पालन करना आपका कर्तव्य है और कर्तव्य पर स्थिर न रहना ही धर्म का त्याग है। अतएव आप मालिक की आज्ञा का उल्लंघन न कीजिए।

परन्तु मेरे पास तो कर देने के लिए टका नहीं है, तो क्या पुत्र का शव विना जलाए यो ही पडा रहेगा ?

हरिश्चन्द्र— प्रिये ! तुम्ही विचारो की विना टका दिए अग्नि-सस्कार कैसे हो सकता है ? सौभाग्य से मालिक यहा आ जाए और विना कर लिए अग्नि-स स्कार करने की स्वीकृति दे दें, तो दूसरी बात है, अन्यथा अग्नि-स स्कार होना सर्वथा असभव है।

राजा का उत्तर सुनकर तारा को दु ख हुआ और वे पुन रुदन करती हुई कहने लगीं— हाय, आज ऐसा दुर्भाग्य है कि एक टके के विना शव यो ही पडा रहेगा। जिसके जन्मोत्सव मे हजारो-लाखो रुपए व्यय किये गए थे, आज उसी की मृत्यु होने पर ई धन के लिए एक टका भी नही है कि जिसे देकर अग्नि-सस्कार कर सकू !

सहसा रानी को ध्यान आया कि इस प्रकार विलाप करने से तो अग्नि-सस्कार नहीं हो सकता है और न कही से किसी प्रकार की सहायता मिलने की ही आशा है। अत मेरे पास यह जो पहनने की साडी है, क्या उसमें से आधी साडी एक टके के मूल्य की न होगी ? क्यो न इसमे से आधी साडी एक टके के बदले देकर अपने पुत्र का अग्नि-स स्कार कर दू। यदि ब्राह्मण मुझे कोई दूसरा वस्त्र दे देंगे, तब तो अच्छा ही है, अन्यथा आधी साडी से ही मैं अपना तन ढाके रहूँगी। लेकिन पुत्र के शव को विना अग्नि-सस्कार किए पडे रहने देना, मातृ-कर्तव्य के विरुद्ध है।

ऐसा विचार कर रानी ने आधी साडी फाडी और राजा से कहने लगी— आप एक टका कर के बदले यह वस्त्र ले लीजियेगा, जो एक टके से अधिक मूल्य का है। अब तो आपको अग्नि-सस्कार करने मे किसी प्रकार की भी आपत्ति नहीं होगी ?

साधारण मनुष्य का ऐसी अवस्था मे सत्य से विचलित हो जाना आश्चर्य की बात नही है, लेकिन हरिश्चन्द्र तो असाधारण पुरुष थे जो इस दशा मे भी सत्य से विचलित न हुए।

रानी की बात सुनकर राजा बोले— तुम्हारे समान स्त्री वास्तव में धन्य है जो सत्य की रक्षा के लिए अपने पहने हुए वस्त्र में से भी आधा फाड़कर दे देने में संकोच नहीं करती। अब मुझे अग्नि-संस्कार करने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है।

जैसे ही 'लीजिए नाथ यदि लज्जा ढांकने का वस्त्र सत्य की रक्षा के लिए न दूंगी तो फिर कब दूंगी' कहकर रानी वस्त्र देने लगीं और राजा ने लेने को हाथ बढ़ाया कि आकाश में दिव्य प्रकाश प्रकट होने के साथ ही देव-दुन्दुभि बजने लगी पुष्प-वर्षा होने लगी और देवगण दोनों के जयघोष के साथ-ही-साथ कहने लगे— आपके सत्य-पालन के व्रत को आपके माता-पिता को आपके मनुष्य जन्म को आपके धैर्य और साहस का तथा धर्मशीलता को धन्य है। घोर अंधेरी रात में भी अन्य किसी की अनुपस्थिति में और अपने पुत्र के अग्नि-संस्कार के कार्य में भी सत्य पर दृढ़ बना रहे, ऐसा मनुष्य आपके अतिरिक्त और कौन हो सकता है? कौन ऐसी स्त्री होगी जो ऐसे विकट समय में भी अपने पति से धर्म छोड़ने का आग्रह न करे।

आकाश से प्रकाश पुष्पवृष्टि और शब्दों को सुनकर राजा-रानी आश्चर्य चकित रह गए। उसी समय एक दिव्य देहधारी देव उनके निकट आकर खड़ा हो गया। यह वही देव था जिसने हरिश्चन्द्र को सत्य-भ्रष्ट करने की प्रतिज्ञा की थी। इस देव ने ही इन्हें इतने कष्ट में डाला था और अपनी माया से रोहित को निर्जीव-सा कर दिया था। लेकिन जब इस अन्तिम कसौटी में भी राजा को सत्य पर दृढ़ देखा तो उसका अभिमान गलित हो गया। वह दीन हो अपने किए पर पश्चात्ताप करने लगा। आते ही सबसे पहले उसने रोहित पर से अपनी माया हटाई जिससे वह उठकर उसी प्रकार खड़ा हो गया जैसे अभी सोकर उठा हो।

अपने निकट एक दिव्य देहधारी देव को खड़ा तथा रोहित को पूर्ववत जीवित देखकर राजा और रानी का आश्चर्य और अधिक बढ़

गया। वे समझ न सके कि यह सब क्या हो रहा है। इतने मे ही वह देव विनीत होकर राजा और रानी से कहने लगा— आप मुझ पर दया कर के मेरा अपराध क्षमा कीजिए।

देव को इस प्रकार क्षमा मागते देख उनके आश्चर्य का और भी ठिकाना न रहा। राजा ने देव से कहा— मैं नही जानता कि आप कौन हैं और ऐसा कौन-सा मेरा अपराध किया है कि जिसकी आप क्षमा माग रहे हैं। कदाचित आपने अपराध भी किया हो, तो भी मुझे आप पर किसी प्रकार का क्रोध नही हो सकता है।

राजा की बात सुनकर देव ने अपना परिचय देते हुए कहा— महाराज ! इन्द्र सभा मे आपके सत्य की प्रशसा सुन मुझे अपने स्वभावानुसार क्रोध हो आया। मैंने विचार किया कि इन्द्र हम देवो के सामने एक मनुष्य की प्रशसा कैसे करते हैं और वह प्रशसा मुझे असह्य हो उठी एव आपको सत्यभ्रष्ट करने की प्रतिज्ञा कर ली। उसकी पूर्ति के लिए ही मैंने देवागनाओं को भेजकर विश्वामित्र का उपवन ध्वस कराया था और उसके द्वारा विश्वामित्र को कुपित कराकर आप लोगो को कष्ट मे डाला था। रोहित को भी मैंने सर्प बनकर डसा था एव माया से निर्जीव-सा कर दिया था। ये सब कार्य मैंने तो आपको सत्य से विचलित करने के लिए ही किए थे परन्तु आप इस घोर दु ख के समय भी विचलित नही हुए। मैं आपकी सत्यवीरता को समझ चुका हू। मैंने अज्ञानवश आपको जो कष्ट दिए हैं, उनके लिए क्षमाप्रार्थी हू। यदि आप मेरे अपराधो को क्षमा नहीं करेंगे तो मेरी आत्मा को कभी शांति नहीं मिलेगी।

अत्याचार की भी एक सीमा होती है। लेकिन उसके बाद तो वह स्वय अत्याचारी को ही दु ख देने लगता है। जिस अत्याचार का प्रतिकार सहनशीलता द्वारा किया जाता है, वह अत्याचार अत्याचारी के लिए ही दु ख देने वाला बन जाता है। देव ने हरिश्चन्द्र को अनेक कष्ट दिए, उन पर बडे-से-बडे अत्याचार किए, परन्तु हरिश्चन्द्र उन अत्याचारो को धैर्य पूर्वक सहन करते रहे। यही कारण है कि वह अत्याचारी

देव स्वयं अपने अत्याचारों का स्मरण कर के आप ही लजा जा रहा था और हरिश्चन्द्र से बार-बार क्षमा प्रार्थना कर रहा था।

देव की बात को सुनकर राजा रानी को बहुत प्रसन्नता हुई। राजा ने कहा— मेरे क्षमा करने से यदि आपको शांति मिलती है तो मैं आपको क्षमा करता हूं। लेकिन आप जिन कामों के लिए मुझसे क्षमा चाहते हैं उनके करने से आप मेरे अपकारी नहीं किन्तु उपकारी ही हैं। यदि आप परीक्षा न करते तो मुझे ज्ञात नहीं होता कि मैं कहां तक सत्य का पालन कर सकता हूं। आपने मेरी परीक्षा के लिए जो कष्ट उठाया उसके लिए आभारी हूं।

देव— आपका यह कथन भी आपकी महानता का परिचायक है लेकिन वास्तव में उपकारी मैं नहीं आप हैं। यदि आप इन कष्टों को सहन न करते तो मुझे जो अभिमान था वह भी नष्ट नहीं होता और सत्य पर भी मुझे श्रद्धा ही जाती। मैंने अभिमानवश इस को भी कुछ नहीं समझा लेकिन आपने कष्ट सहन करके मेरे उस अभिमान को नष्ट कर दिया है। आपने जो कष्ट सहे हैं, वे सब मेरे उपकार करने के लिए ही सहे हैं। मैं मायी तो था आपको कष्ट देने लेकिन मैं उसी प्रकार शुद्ध हो गया हूं जैसे पारस के स्पर्श से लोहा कुन्दन बन जाता है। आपके क्षमा करने से मेरा अज्ञान भी मिट गया और मेरी आत्मा भी पवित्र हो गई।

२७. विश्वामित्र का आत्म-निरीक्षण

महाराज हरिश्चन्द्र के काशी चले जाने के बाद अयोध्या की दु खी प्रजा विवश होकर नगर मे लौट आई। इस समय सबके मुख पर उदासी छाई हुई थी और आखो से आसू बह रहे थे। जो नगर कल तक रमणीय दिखलाई देता था, आज वह भयंकर जान पडता था। वहा के प्रसन्न हंस-मुख निवासी आज चिन्तित और दु:खित दिखलाई पड रहे थे। जो बाजार व्यापारियो मे भरे रहते थे, वहा आज प्रजा के झु ड-के-झु ड एकत्रित हो दु ख की चर्चा करते थे। महाराज हरिश्चन्द्र के चले जाने से प्रजा दिन-रात चिन्ता मे निमग्न रहने लगी। उसे न तो कोई दूसरा कार्य सूझता था और न करने मे ही मन लगता था।

प्रजा मे मुखिया माने जाने वाले महानुभाव एक तो वैसे ही महाराज हरिश्चन्द्र के चले जाने से दु खी थे और उस पर भी जब प्रजा की यह हालत देखी तो अधिक चिन्तित हो उठे। वे विचारने लगे कि यदि प्रजा की यही दशा रही तो जीवन भाररूप हो जाएगा। अत महाराज हरिश्चन्द्र के चलते समय दिये गए उपदेश के अनुसार हमारा कर्तव्य है कि प्रजा की इस चिन्ता को दूर कर के इसे अपने कर्तव्य पर पुन: आरूढ करें।

ऐसा विचार कर वे मुखिया प्रजा को समझाने लगे। उन्होंने महाराज हरिश्चन्द्र के उपदेश की ओर प्रजा का ध्यान आकर्षित किया और कहा कि यदि इस प्रकार चिन्ता कर के आप लोग प्राण भी छोड देंगे, तब भी कोई लाभ होने वाला नहीं है। अत यही उचित है कि महाराज हरिश्चन्द्र के आदेशानुसार रहकर जीवन व्यतीत करें।

मुखियो के समझाने-बुझाने पर प्रजा को कुछ ढाढस बधा। किन्तु विश्वामित्र हरिश्चन्द्र के प्रति प्रजा के सद्भावो को मिटाने और अपना

प्रभाव जमाने के लिए निरंकुश शासन करने लगे। इससे समासदगण रुष्ट हो गए और शासन का प्रतिकार करने के लिए उन्होंने एक प्रजा परिषद् स्थापित की जो विश्वामित्र द्वारा प्रचलित कठोर नियमों का विरोध करती एवं सत्याग्रह द्वारा उन नियमों को कार्यरूप में परिणत नहीं होने देती थी। प्रजा के इस कार्य से विश्वामित्र की झुंझलाहट दिनोंदिन बढ़ने लगी एवं अपना आतंक जमाने के लिए विशेष अत्याचार करने लगे। प्रजा उनके अत्याचारों को धैर्यपूर्वक सहन करती रही। उसने न तो अपने सत्याग्रह को त्यागा और न विश्वामित्र के ऐसे कार्यों में सहयोग ही दिया। विश्वामित्र अपना प्रभाव जमाने के प्रयत्नों में निरंतर असफल होते रहे।

यद्यपि विश्वामित्र अंतरंग में तो प्रजा की सराहना करते थे परन्तु अपनी हठ पूरी करने के लिए प्रगट में प्रजा के प्रति अन्याय करते रहते थे। कभी-कभी वे बहुत ही पश्चात्ताप करने लगते कि मैंने यह क्या किया? कहां से अपने आपको इस जंजाल में फंसा लिया और जैसे-जैसे इससे निकलने की चेष्टा करता हूं वैसे-ही-वैसे और भी फंसता जा रहा हूं। मुझे क्रोध करने का फल पूर्णरूप से मिल रहा है। यदि अपने ऊपर क्रोध का आधिपत्य न होने देता तो आज मेरी यह दशा क्यों होती और प्रतिष्ठा को हानि पहुंचती?

चाहे कैसा अन्यायी मनुष्य हो परन्तु उस पर सत्य का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता है। हरिश्चन्द्र के सत्य से प्रभावित होकर विश्वामित्र स्वयं अपने लिए पश्चात्ताप करते थे कि मैंने हरिश्चन्द्र के साथ बहुत ही अन्याय किया है। उसको सत्य से विचलित करने लिए तो मैंने अपनी तपस्या का संपूर्ण बल लगा दिया फिर भी मैं उसे सत्य से भ्रष्ट नहीं कर पाया वह अपने सत्य से विचलित नहीं हुआ। अवश्य ही वह महान पुरुष है। ऐसे महान पुरुष के प्रति मेरे द्वारा किया गया व्यवहार नितांत निंद्य है। प्रजा पर अपने द्वारा किए जा रहे अन्याय का भी उन्हें समय-समय पर पश्चात्ताप हो ही जाता था।

जिस तरह हाथ से गिरने पर गेंद ऊपर ही उछलती है, उसी प्रकार न्यायवृत्ति पर चलने वाले मनुष्य भी आपत्ति मे गिरकर ऊपर की ओर ही उठते हैं।

यह परिवर्तन देखकर हरिश्चन्द्र ने तारा से कहा— प्रिये तारा! आज जो कुछ तुम देख रही हो, वह सब तुम्हारी ही कृपा का फल है! यदि तुम मुझे उस विषय-कूप से न निकालती और साथ न देती तथा स्वय बिककर मेरे लिए आदर्श उपस्थित न करती तो निश्चय ही मैं सत्य से पतित हो गया होता एव सत्यपालन करने से प्राप्त होने वाले आनद को हम कदापि नही पा सकते थे।

उत्तर मे तारा ने कहा— नाथ, इसमे मेरी कुछ भी विशेषता नही है। जो कुछ भी मैंने किया, वह अपने कर्त्तव्य से अधिक कुछ नही किया है। यदि आप राज्य का दान कर दक्षिणा देने का वचन न देते तो मुझे यह आनद कहा से प्राप्त हो सकता था?

श्मशान मे अभूतपूर्व प्रकाश देख और कोलाहल सुनकर नगर-निवासी आश्चर्य-चकित हो कहने लगे कि आज यह क्या बात है? बहुतेरे इसको देखने के लिए दौडे। महाराज हरिश्चन्द्र का मालिक भगी भी दौडा आया कि आज श्मशान मे यह क्या गडबड है। भगी पर दृष्टि पड़ते ही हरिश्चन्द्र सिंहासन से उतर पडे और उसका सत्कार करते हुए उन्होंने कहा कि मालिक यह सब आपका ही प्रताप है। यदि आप मुझे खरीदकर सत्य की रक्षा न करते तो यह सब कैसे हो सकता था?

भगी हाथ जोडकर कहने लगा— आप मुझे क्षमा कीजिए। आपके साथ मैंने तथा मेरी स्त्री ने बहुत अभद्र व्यवहार किया है। मैं उस पाप से दबा जा रहा हूँ। अत आप मुझे क्षमा कर के मेरा और मेरी स्त्री का उद्धार कीजिए।

राजा— नही, आप ऐसा न कहिए। आपने सदैव सहृदयता का व्यवहार किया है। यदि मालकिन की कृपा से मुझे श्मशान-रक्षा का कार्य न मिला होता तो यह सब देखने को कहा से मिलता?

जिस तरह हाथ से गिरने पर गेंद ऊपर ही उछलती है, उसी प्रकार न्यायवृत्ति पर चलने वाले मनुष्य भी आपत्ति मे गिरकर ऊपर की ओर ही उठते हैं।

यह परिवर्तन देखकर हरिश्चन्द्र ने तारा से कहा— प्रिये तारा! आज जो कुछ तुम देख रही हो, वह सब तुम्हारी ही कृपा का फल है! यदि तुम मुझे उस विषय-कूप से न निकालती और साथ न देती तथा स्वय बिककर मेरे लिए आदर्श उपस्थित न करती तो निश्चय ही मैं सत्य से पतित हो गया होता एव सत्यपालन करने से प्राप्त होने वाले आनद को हम कदापि नही पा सकते थे।

उत्तर मे तारा ने कहा— नाथ, इसमे मेरी कुछ भी विशेषता नहीं है। जो कुछ भी मैंने किया, वह अपने कर्त्तव्य से अधिक कुछ नही किया है। यदि आप राज्य का दान कर दक्षिणा देने का वचन न देते तो मुझे यह आनद कहा से प्राप्त हो सकता था?

श्मशान मे अभूतपूर्व प्रकाश देख और कोलाहल सुनकर नगर-निवासी आश्चर्य-चकित हो कहने लगे कि आज यह क्या बात है? बहुतेरे इसको देखने के लिए दौडे। महाराज हरिश्चन्द्र का मालिक भगी भी दौडा आया कि आज श्मशान मे यह क्या गडबड है। भगी पर दृष्टि पडते ही हरिश्चन्द्र सिंहासन से उतर पडे और उसका सत्कार करते हुए उन्होंने कहा कि मालिक यह सब आपका ही प्रताप है। यदि आप मुझे खरीदकर सत्य की रक्षा न करते तो यह सब कैसे हो सकता था?

भगी हाथ जोडकर कहने लगा— आप मुझे क्षमा कीजिए। आपके साथ मैंने तथा मेरी स्त्री ने बहुत अभद्र व्यवहार किया है। मैं उस पाप से दबा जा रहा हूँ। अत आप मुझे क्षमा कर के मेरा और मेरी स्त्री का उद्धार कीजिए।

राजा— नही, आप ऐसा न कहिए। आपने सदैव सहृदयता का व्यवहार किया है। यदि मालकिन की कृपा से मुझे श्मशान-रक्षा का कार्य न मिला होता तो यह सब देखने को कहा से मिलता?

सज्जन अपकारी के अपकार को तो भूल जाते हैं परन्तु उपकारी के उपकार को नहीं। इसलिए देवताओं से सेवित होने पर भी हरिश्चन्द्र ने भंगी को अपना उपकारी मानकर उसके सम्मुख नम्रता ही प्रगट की।

महाराज हरिश्चन्द्र ने सब देवों से भंगी का परिचय कराते हुए कहा कि ये मेरे मालिक हैं जिनकी कृपा से मैं सत्य-पालन में समर्थ हो सका हूं। जब मेरा मूल्य न लगने के कारण मैं सत्य भ्रष्ट हो रहा था तो आपने खरीदकर मेरे सत्य की रक्षा की थी। मैं आपकी जितनी भी प्रशंसा करूं वह थोड़ी है। आपके उपकार से मैं कभी भी उऋण नहीं हो सकता हूं।

हरिश्चन्द्र की बात सुनकर सब देवों ने भंगी की बहुत प्रशंसा की और सत्कार किया।

बात-की-बात में सारे नगर में यह खबर फैल गई कि अयोध्या के राजा हरिश्चन्द्र और रानी तारा आज श्मशान में प्रगट हुए हैं। काशी नरेश भी श्मशान की ओर चले। वे मन-ही-मन पश्चात्ताप करते जाते थे कि महाराज हरिश्चन्द्र इतने दिन यहां रहे और मुझे इसका पता भी न लगा। मेरे लिए यह कितनी लज्जा की बात है।

महारानी तारा का खरीददार ब्राह्मण भी चिन्ता में था कि दासी अब तक क्यों नहीं लौटी? कहीं वह मर न गई हो? इतने में उसने भी श्मशान में हो रही घटना की खबर सुनी और 'एक पंथ दो काज' कहावत का विचार कर वह भी श्मशान में आया कि चलो वहां हरिश्चन्द्र-तारा को भी देख लूंगा तथा दासी की भी खोज करता आऊंगा। वहां आकर जब उसने देखा कि दासी तो सिंहासन पर रानी बनी बैठी है तो उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वह मन-ही-मन पछताने लगा कि अवध की महारानी ही मेरे यहां दासी बनकर रहती थीं। मैंने उनसे बहुत ही निकृष्ट सेवाएं कराईं और कठोर व्यवहार किया है। अब मैं कैसे उनको अपना मुंह दिखला सकूंगा?

उधर रानी भी चिन्तित थी कि मालिक ने मुझे कुछ ही समय का अवकाश दिया था और यहा आकर इस झझट मे फस जाने से काफी समय हो गया है। न मालूम मालिक क्या कहेंगे ? इतने में रानी की दृष्टि ब्राह्मण पर पडी तो वे सिंहासन से उतर पडी और हाथ जोडकर उससे कहने लगी— महाराज मेरा अपराध क्षमा कीजिए। मैं इस झझट मे पड गई, इसी कारण अब तक नही आ सकी।

उत्तर मे ब्राह्मण तारा के पैरो मे झुककर कहने लगा— महारानी जी, मैंने जो अज्ञानवश आपसे दासी का काम कराया और निकृष्ट सेवाए ली तथा कठोर व्यवहार किया, उनके लिए आप मुझे क्षमा कीजिए। मैं बडा लज्जित हू।

ब्राह्मण को उठाते हुए तारा कहने लगी— आपने मुझ पर बडी कृपा की है। आपकी कृपा से ही मैं अपने पति का आधा ऋण चुका सकी थी। यदि उस समय आप न होते तो निस्सदेह ही मेरे पति सत्य से भ्रष्ट हो गए होते। आपकी वह कृपा कभी भूलने जैसी नही है।

यद्यपि ब्राह्मण ने तारा के साथ बहुत ही दुर्व्यवहार किया था, लेकिन उन्होने उसका जिक्र तक नही किया और प्रशसा ही करती रही। सज्जनो मे यह स्वाभाविक गुण होता है कि वे दुर्व्यवहार पर नही, बल्कि सद्व्यवहार पर ही ध्यान देते हैं। लेकिन दुर्जन मनुष्यो की दृष्टि सदैव दुर्व्यवहार पर ही रहती है।

रानी द्वारा प्रगट किये गए कृतज्ञता पूर्ण भावो को सुनकर देवो ने ब्राह्मण की प्रशसा करते हुए उसका भी आदर-सत्कार किया।

वे सेठ-साहूकार भी अपने पूर्व-कृत व्यवहार का स्मरण कर बहुत ही लज्जित हुए और पश्चात्ताप करते हुए महाराज हरिश्चन्द्र से क्षमा मागने लगे। महाराज हरिश्चन्द्र ने उन्हें सात्वना देते हुए कहा कि आप लोगों का कोई अपराध नहीं है। आप लोग साधारण बुद्धि से पहचानने वाले हैं और वैसी स्थिति मे बिना परिचय प्राप्त किए मुझे कैसे पहचान सकते थे ? यदि इस पर भी आप अपने को अपराधी समझते हैं तो इसका

प्रायश्चित्त यही है कि भविष्य में अपने यहाँ आये हुए किसी भी दीन-दुखी का अपमान न कर के उसका दुःख दूर करने की चेष्टा कीजिए।

काशी नरेश भी महाराज हरिश्चन्द्र के निकट पहुँच कर कहने लगे कि मैं ऐसा हतभाग्य नरेश हूं कि आपने इतने दिनों नगर में रहकर कष्ट उठाए लेकिन मुझे इसकी खबर तक नहीं हुई। आप मेरे अपराध को क्षमा कीजिए और कृपा कर बताइए कि इसका क्या प्रायश्चित्त करूं ?

हरिश्चन्द्र ने काशी नरेश का सत्कार करते हुए कहा— आप अकारण ही पश्चात्ताप करते हैं। यदि मेरे आने की सूचना आपको मिली होती तो आप अवश्य ही मुझसे मिलते। लेकिन जब मैंने किसी को अपना परिचय ही नहीं दिया तो ऐसी स्थिति में आपका क्या अपराध है ? परिचय देने से तो आप मेरा ऋण चुकाकर मुझे अपना अतिथि बनाते और तब आज आप जो कुछ देख रहे हैं वह रचना कैसे होती ? इसलिए आप किसी प्रकार का खेद न कीजिए। यदि खेद की कोई बात हो तो यह हो सकती है कि जिस काशी की भूमि पवित्र मानी जाती है जिस काशी में आकर मैंने लाभ उठाया वहाँ मैं अपने सत्यपालन में समर्थ हो सका हूं यदि वहीं के आप लोग निवासी होकर सत्य का पालन न करें। काशी की भूमि तभी लाभदायक मानी जा सकती है जब यहाँ सत्य का पालन हो। यदि केवल यहाँ रहने का ही महत्त्व होता तो फिर मुझे बिकने की क्या आवश्यकता थी ? वास्तव में किसी क्षेत्र विशेष का महत्त्व नहीं है अपितु चारित्र का महत्त्व है। अन्य स्थान में रहकर भी जो चारित्रवान हैं, उनके लिए वह भूमि भी काशी की भूमि से विशेष लाभ प्रद है। लेकिन यहाँ रहकर भी जो चारित्र का पालन नहीं करता उसके लिए सभी भूमि समान है। अतः सत्य-पालन द्वारा इस भूमि से लाभ उठाइए और राज्य के धन को प्रजा की धरोहर समझकर उसे प्रजाहित में लगाइए तथा ऐसा करते हुए अपनी आत्मा का कल्याण-चिन्तन कीजिए। इस प्रायश्चित्त से आपका खेद भी मिट जाएगा और आपको एवं दूसरों को भी लाभ होगा।

इसी प्रकार महाराज हरिश्चन्द्र ने सभी काशी निवासियो को समझाया और कहा कि जब मैंने अपना परिचय ही नही दिया तो आप लोग अकारण ही क्यो पश्चात्ताप करते हैं ? इस प्रकार राजा ने सबके हृदय को शात किया ।

उसी समय अयोध्या से चले हुए विश्वामित्र भी काशी आ पहुचे और श्मशान मे अद्भुत प्रकाश को देख तथा हरिश्चन्द्र-तारा के जयघोष का कोलाहल सुनकर वे भी वही आए । दूर से राजा रानी को सिंहासन पर बैठे देखकर विश्वामित्र भी उनका जयघोष करने लगे । हरिश्चन्द्र ने जैसे ही विश्वामित्र को देखा तो वे तारा सहित सिंहासन से उतर पडे और उन्हे प्रणाम किया । उपस्थिति उन दोनो के इस व्यवहार को देखकर आश्चर्य-चकित हो गई और विचारने लगी कि ये ही वे विश्वामित्र हैं जिन्होने हरिश्चन्द्र को इतने कष्टो मे डाला था । परन्तु आज स्वय ही उनके जय-घोष कर रहे हैं ।

विश्वामित्र ने राजा और रानी से कहा कि आप सिंहासन पर ही बैठिए । अब तक मैं समझता था कि मेरा क्रोध ही अपार है परन्तु इतने अनुभव के पश्चात अब मैं यह बात स्वीकार करता हू कि आप लोगों का सत्य मेरे क्रोध से भी अपार है । जो बात अब तक मैंने हठवश स्वीकार नहीं की थी वही बात आज आप लोगो के सत्य से पराजित होकर स्वीकार करता हू । आपने अपने सत्य और सहनशीलता द्वारा मेरे तप को पराजित कर दिया तथा साथ ही मेरे अभिमान को भी नष्ट कर दिया है । इस दुष्ट क्रोध से मेरा पीछा आप जैसे सज्जनो ने ही छुडाया है । अब तक मुझे जितने भी मनुष्यो से काम पडा, उन्होंने उसको उत्तेजना ही दी थी, लेकिन आपको मैं अनेकानेक धन्यवाद देता हूं जो मेरे क्रोध को नष्ट कराने में समर्थ हो सके हैं और अपने अपराधों के लिए क्षमा-प्रार्थना करता हू ।

विश्वामित्र की बात सुनकर सारी सभा दग रह गई कि जो

विश्वामित्र अपने क्रोध के लिए प्रसिद्ध थे आज उनमें इतनी नम्रता कहां से आ गई ?

विश्वामित्र की बात सुनकर हरिश्चन्द्र बोले— महाराज ! आप जैसे ऋषि के लिए मुझ तुच्छ की इतनी प्रशंसा करना उचित नहीं है। जो कुछ भी हुआ और हो रहा है वह सब आपकी कृपा का फल है। यदि आप राज्य लेकर मुझ पर दक्षिणा का भार न डालते यदि आप अपनी दक्षिणा की वसूली में ढील करते तो आज जो आनन्द प्राप्त हो रहा है वह कदापि प्राप्त नहीं होता। आपने तो यह सब कर के मेरा उपकार ही किया है। आपके द्वारा की गई परीक्षा से ही मैं समझ सका हूं कि मैं सत्य का कहां तक पालन कर सकता हूं। आपने मेरा उपकार करने में जो कष्ट सहे हैं, उनसे कदापि उऋण नहीं हो सकता हूं।

राजा की यह उदारतापूर्ण बात सुनकर सब लोग महाराज हरिश्चन्द्र की और अधिक प्रशंसा करने लगे।

विश्वामित्र बोले— बस राजन् ! क्षमा करो। अब इस प्रशंसा द्वारा मुझे और अधिक लज्जित न करो।

हरिश्चन्द्र— महाराज मैंने जो कुछ भी प्रार्थना की है वह सत्य ही की है।

विश्वामित्र— अब मेरी प्रार्थना है कि आप अयोध्या चलिए और राज्य को संभालकर अवध की दुःखी प्रजा को प्रसन्न कीजिए।

हरिश्चन्द्र— महाराज ! मैंने तो वह राज्य आपको दान में दे दिया है और दान में दी हुई वस्तु वापस नहीं ली जाती है। इसके सिवाय अब मेरी राज्य करने की इच्छा भी नहीं है।

विश्वामित्र— राजन्, उस समय मैंने जो कुछ भी किया था वह सब क्रोधवश किया था। इसीसे मैंने तुमसे राज्य मांग लिया था। अब तुम्हीं विचारो कि यदि ऐसा न होता तो मैं स्वयं जो अपने राज्य को त्याग चुका था फिर तुमसे राज्य क्यों मांगता ? उस समय मेरी बुद्धि अस्थिर थी अतः बुद्धि की अस्थिरता में किये गए कार्य प्रामाणिक नहीं

माने जाते हैं। इसलिए राज्य वापस लेने मे आपको किंचित् भी सकोच नही करना चाहिए।

हरिश्चन्द्र— महाराज, थोड़ी देर के लिए यदि आपकी युक्ति को मान भी लू तो भी जिस राज्य को दान मे दे चुका हू, उसे फिर नही ले सकता। क्रोध का आवेश रहा होगा तो आपको रहा होगा और बुद्धि अस्थिर रही होगी तो आपकी रही होगी, लेकिन उस समय न तो मुझे क्रोध का आवेश था और न मेरी बुद्धि ही अस्थिर थी। अत राज्यदान का मेरा कार्य तो प्रामाणिक ही माना जाएगा।

विश्वामित्र और हरिश्चन्द्र की उपर्युक्त बातें सुनकर वह परीक्षा लेने वाला देव कहने लगा कि विश्वामित्र का राज्य मागने मे किंचित् भी अपराध नहीं है। उस समय उनकी बुद्धि पर मेरी माया का अधिकार था। अत उन्होंने मेरी प्रेरणा से यह सब किया था।

हरिश्चन्द्र— आपकी बात मानता हू, परन्तु मेरी बुद्धि पर तो किसी का अधिकार नहीं था। मैंने तो जो कुछ किया वह स्व-बुद्धि से ही किया है। ऐसी अवस्था मे मैं दिये हुए दान को कैसे वापस ले सकता हू ?

जब हरिश्चन्द्र ने विश्वामित्र और उस देव को निरुत्तर कर दिया तो इन्द्रादि प्रमुख देव हरिश्चन्द्र से बोले— राजन् ! यद्यपि आपको राज्य करने की आकाक्षा नही है, किन्तु जिस कार्य से जनता का हित हो, उस कार्य को करना तो स्वीकार करोगे न ?

हरिश्चन्द्र— हा, यदि मेरे किसी कार्य से दूसरों का हित होता हो तो मैं उसे प्राणपण से करने को तैयार हू।

इन्द्र— तो ठीक है। आप विश्वामित्र की प्रार्थना स्वीकार कर अयोध्या तो चलिए और वहा की प्रजा विश्वामित्र के शासन से सुखी हो तो कोई बात नही और यदि दु खी हो तो आपको शासन करना ही पडेगा। दूसरे, आपने अभी स्वीकार किया है कि यदि मेरे किसी कार्य से दूसरो का हित होता हो तो मैं उसे प्राणपण से करने को तैयार हू। अत राज्य करते हुए राज्य सुख भोगना एक बात है और प्रजा के हित को

दृष्टि में रखकर शासन व रक्षा करना दूसरी बात है। इसलिए आपको प्रजा की इच्छा होने पर उसकी रक्षा का भार तो ग्रहण करना ही पड़ेगा।

इन्द्र की इस बात के उत्तर में हरिश्चन्द्र ने कहा कि मुझसे यह नहीं हो सकेगा। एक तो जिस राज्य को मैं दान कर चुका हूँ उस राज्य में वास या रहने का मुझे अधिकार ही नहीं है। दूसरे, मुझे महाराज विश्वामित्र ने अयोध्या में न ठहरने की आज्ञा दी है। इन कारणों से मैं आपकी इस आज्ञा का पालन करने में अपने आपको असमर्थ पाता हूँ।

इन्द्र— राजन्! यह तो ठीक है कि आप केवल अवध के अधिपति थे इसलिए दान दिये हुए राज्य में नहीं आना चाहते। लेकिन यदि समस्त भूमंडल के अधिपति होते और उस समय अपना राज्य दान कर देते तो इस प्रण का पालन कैसे करते? दूसरे, राज्य में न रहने देने की आज्ञा देने का अधिकार जिन विश्वामित्र को है तो क्या उन्हें अपनी आज्ञा वापस लेने का अधिकार नहीं है? फिर क्या कारण है कि उनकी एक आज्ञा तो मानी जाए और दूसरी नहीं? इन बातों से आप अयोध्या चलने से नहीं छूट सकते। आपको अयोध्या चलना ही पड़ेगा।

इन्द्र के इस कथन का समर्थन समस्त उपस्थिति ने किया। सब लोग हरिश्चन्द्र से अयोध्या जाने के लिए आग्रह करने लगे। जिसे सुन कर हरिश्चन्द्र विचार में पड़ गए कि अब मुझे क्या करना चाहिए? इतने लोगों का आग्रह न मानना मेरा हठ कहलाएगा। अंत में विवश होकर उन्होंने कहा कि रानी और मैं बिका हुआ हूं। जब तक हम अपने मालिकों को पांच-पांच-सौ स्वर्ण-मुद्राएं नहीं चुका देते तब तक हमें चलने की बात करने का भी अधिकार नहीं है अयोध्या चलना तो दूर रहा।

इस पर ब्राह्मण और भंगी कहने लगे कि हम आपका मूल्य तो वैसे ही पा चुके हैं। अब आप हमारे दास नहीं हैं।

भंगी और ब्राह्मण के मना करते रहने पर भी देवों ने उन्हें खर्च किये गए धन से कई गुना अधिक धन दिया।

इसके बाद इन्द्र की आज्ञा से तत्क्षण एक सुन्दर विमान तैयार किया गया। इन्द्र, विश्वामित्र आदि के बार-बार प्रार्थना करने पर महाराज हरिश्चन्द्र महारानी तारा और कुमार रोहित सहित ब्राह्मण और भंगी के प्रति कृतज्ञता प्रगट कर के और उनकी स्वीकृतिपूर्वक सभी उपस्थित जनो से विदा मागकर विमान मे बैठे तथा विश्वामित्र व इन्द्रादि के साथ अयोध्या की ओर चल दिए।

२६ पुनरागमन और राज्य शासन

अयोध्या के राज्यासन पर पुनः हरिश्चन्द्र को आसीन करने के विश्वामित्र के विचारों की खबर बिजली की भांति सारे नगर में फैल गई। समस्त प्रजा प्रसन्न हो उठी और विश्वामित्र को उनकी सुबुद्धि के लिए धन्यवाद देने लगी। सारे नगर में यही एक चर्चा थी। हरिश्चन्द्र का वापस लौटना सुनकर लोग प्रसन्नता से फूले नहीं समाते थे। सारा नगर सजाया गया था। कहीं पर तो महिलाएं हरिश्चन्द्र और तारा का नाम ले-लेकर मंगलगीत गा रही थीं तो कहीं पर पुरुषवर्ग हरिश्चन्द्र और तारा का जयघोष करने के साथ-साथ उनके सत्य का गुणगान कर रहे थे तथा उनके सत्य-पालन में विजयी होने के कारण हर्षविभोर हो रहे थे। बालकवृन्द रंग-बिरंगे कपड़े पहने धक्कम-धूर मचा रहे थे। वृद्धजन अपने राजा के स्वागत की तैयारी में जुटे हुए थे। बहुत से लोग तो ऊंचे ऊंचे मकानों पर चढ़कर काशी के मार्ग की ओर टकटकी लगाए हुए देख रहे थे। सहसा काशी की ओर से आता हुआ एक विमान उनको दिखलाई पड़ा।

शायद इसी विमान में महाराज हरिश्चन्द्र सपरिवार हों! इस उत्सुकता से सारे नगर-निवासी काशी के मार्ग की ओर दौड़ पड़े। महिलाएं बेशकीमती कपड़ों और आभूषणों से सजी हुई सोने के थालों में मंगलद्रव्य सजाकर हरिश्चन्द्र और तारा के मंगलगीत गाती जा रही थीं और पुरुष उच्च स्वर से जयघोष करते जा रहे थे।

उधर विमान में बैठे हुए महाराज हरिश्चन्द्र इत्यादि सभी को अयोध्यापुरी की ओर संकेत करते हुए कह रहे थे कि यही वह अयोध्या है जिसमें जन्म लेने के लिए देवगण भी लालायित रहते हैं। मेरी दृष्टि में अयोध्या के सम्मुख स्वर्ग भी तुच्छ है। यहां के निवासी मुझे बहुत ही प्रिय हैं। एक तो वैसे ही अयोध्या प्राकृतिक कारणों से रम्य है, दूसरे इसी

नगरी में भगवान ऋषभदेव आदि तीर्थंकरो ने जन्म धारण किया था, तीसरे यह पुरी उस लोक मे है, जहा पुण्योपार्जन के कार्य किए जा सकते हैं। इन सब कारणो से अयोध्या बहुत ही प्रशसनीय स्थल है।

महाराज हरिश्चन्द्र की बात के उत्तर मे इन्द्र कहने लगे कि वास्तव मे अयोध्या ऐसी ही है। उसकी जितनी भी प्रशसा की जाए, उतनी ही कम है। मैं इन्द्र होकर भी इस अयोध्या का ऋणी हू।

इस प्रकार बातचीत करते हुए विमान मे बैठे-बैठे सब लोग अयोध्या के निकट आए। नगर के बाहर प्रजा को एकत्रित और विमान की ओर टकटकी लगाए देख हरिश्चन्द्र ने इन्द्र से कहा कि अब मेरा विमान मे उडते रहना उचित नही है। प्रजा मेरी प्रतीक्षा मे भूमि पर खडी है और मैं आकाश मे रहू, यह सर्वथा अनुचित है।

इन्द्र की आज्ञा से विमान भूमि पर उतरा। विमान से महाराज हरिश्चन्द्र, महारानी तारा और कुमार रोहित के उतरते ही प्रजा ने उन पर वस्त्राभूषण न्यौछावर किए और पुष्प-वृष्टि के साथ-साथ गगनभेदी जय-जयकार किया। पुरुषो ने हरिश्चन्द्र को, महिलाओ ने तारा को और बालको ने रोहित को चारो ओर से घेर लिया। सब तारा और हरिश्चन्द्र के चरणो में झुक-झुककर प्रणाम करने लगे और वे उन सबको उठा-उठाकर गले लगाते हुए क्षेमकुशल पूछने लगे। परन्तु स्नेहमग्न प्रजा आखों से प्रेम के आसू बहाने के सिवाय और कुछ उत्तर न दे सकी एव उनके द्वारा हरिश्चन्द्र के चरणो का प्रक्षालन करने लगी।

महाराज हरिश्चन्द्र के सकुशल वापस लौटने की खुशी मे प्रजा ने यथाशक्ति दान दिया। महिलाए भी तारा को पाकर प्रसन्न हो उठीं और उनसे कहने लगी कि आपने ऐसे आपद्काल मे पति के साथ जाकर स्त्री जाति का मुख उज्जवल कर दिया है। वास्तव मे आपने स्त्री जाति को कलक से बचा लिया है।

प्रजा का ऐसा प्रेम देखकर इन्द्रादि देव प्रजा और हरिश्चन्द्र की प्रशसा करने लगे। विश्वामित्र ने महाराज हरिश्चन्द्र को राज महल मे

२६ पुनरागमन और राज्य शासन

अयोध्या के राज्यासन पर पुनः हरिश्चन्द्र को आसीन करने के विश्वामित्र के विचारों की खबर बिजली की भांति सारे नगर में फैल गई। समस्त प्रजा प्रसन्न हो उठी और विश्वामित्र को उनकी सुबुद्धि के लिए धन्यवाद देने लगी। सारे नगर में यही एक चर्चा थी। हरिश्चन्द्र का वापस लौटना सुनकर लोग प्रसन्नता से फूले नहीं समाते थे। सारा नगर सजाया गया था। कहीं पर तो महिलाएं हरिश्चन्द्र और तारा का नाम ले-लेकर मंगलगीत गा रही थीं तो कहीं पर पुरुषवर्ग हरिश्चन्द्र और तारा का जयघोष करने के साथ-साथ उनके सत्य का गुणगान कर रहे थे तथा उनके सत्य-पालन में विजयी होने के कारण हर्षविभोर हो रहे थे। बालकगण रंग-बिरंगे कपड़े पहने उछल-कूद मचा रहे थे। वृद्धजन अपने राजा के स्वागत की तैयारी में जुटे हुए थे। बहुत से लोग तो ऊँचे-ऊँचे मकानों पर चढ़कर काशी के मार्ग की ओर टकटकी लगाए हुए देख रहे थे। सहसा काशी की ओर से आता हुआ एक विमान उनको दिखलाई पड़ा।

शायद इसी विमान में महाराज हरिश्चन्द्र सपरिवार हों। इस उत्सुकता से सारे नगर-निवासी काशी के मार्ग की ओर दौड़ चले। महिलाएं बेशकीमती कपड़ों और आभूषणों से सजी हुई सोने के थालों में मंगलद्रव्य सजाकर हरिश्चन्द्र और तारा के मंगलगीत गाती आ रही थीं और पुरुष उच्च स्वर से जयघोष करते आ रहे थे।

उधर विमान में बैठे हुए महाराज हरिश्चन्द्र रमाति सभी को अयोध्यापुरी की ओर संकेत करते हुए कह रहे थे कि यही वह अयोध्या है जिसमें जन्म लेने के लिए देवगण भी लालायित रहते हैं। मेरी दृष्टि में अयोध्या के सम्मुख स्वर्ग भी तुच्छ है। यहाँ के निवासी मुझे बहुत ही प्रिय हैं। एक तो वैसे ही अयोध्या प्राकृतिक कारणों से रम्य है, दूसरे यहाँ

प्रजा दु खी है तो राजा होने के कारण आप उसका दु ख दूर कीजिए।

हरिश्चन्द्र का उत्तर सुनकर प्रजा बहुत दु खी हुई और उनसे पुन राज्य-भार ग्रहण करने की प्रार्थना करने लगी।

इस पर हरिश्चन्द्र ने प्रजा को समझाते हुए कहा— आप लोग ही बतलाए कि क्या दान मे दी हुई चीज वापस ली जाती है ?

प्रजा— नही।

हरिश्चन्द्र— तो जब मैं यह राज्य दान कर चुका हूँ, तो फिर से उसे कैसे ग्रहण कर सकता हू।

हरिश्चन्द्र के इस कथन से निरुत्तर होकर प्रजा चुपचाप आसू बहाने लगी। तब इन्द्र ने प्रजा को सबोधित करते हुए कहा कि महाराज हरिश्चन्द्र पहले मुझसे कह चुके है कि मैं दूसरो के हित के कार्य करने के लिए प्राणपण से तैयार हूँ। अत आपसे प्रश्न पूछता हू कि आपका हित विश्वामित्र के राजा रहने में है या महाराज हरिश्चन्द्र के ?

इन्द्र के इस प्रश्न के उत्तर मे प्रजा ने एक स्वर से कहा कि हमारा हित महाराज हरिश्चन्द्र के राज्य करने से ही होगा। हमे जो सुख इनके राज्य मे मिला और भविष्य मे मिलेगा, वैसा सुख विश्वामित्र के राज्य मे नहीं मिला और न मिलने की आशा है।

प्रजा का उत्तर सुनकर इन्द्र पुन महाराज हरिश्चन्द्र से कहने लगे— प्रजा आपसे प्रसन्न है और आपके राज्य करने से सुख की आशा करती है तो इस दशा मे और वह भी ऐसे समय में जब विश्वामित्र स्वय ही आपसे राज्य ले लेने का आग्रह कर रहे हैं, तब आपका राज्य न लेना कदापि उचित नही है। अत आपको यही उचित है कि आप उनकी इच्छानुसार कार्य करें।

हरिश्चन्द्र— परन्तु आप ही कहिए कि जो वस्तु दान मे दी जा चुकी है, क्या उसे फिर लौटा लेना उचित होगा ?

इन्द्र— आपका कहना यथार्थ है, परन्तु मैं पहले ही कह चुका हूँ कि राज्य कर के सुख भोगना एक बात है और प्रजा पर शासन कर के

में चलने के लिए प्रजा को संकेत किया और प्रजा उनको लेकर राज महल की ओर चली। इन्द्रादि सब देव और विश्वामित्र भी साथ-साथ महल की ओर चले।

महाराज हरिश्चन्द्र के आने की आशा से नगरनिवासियों ने नगर को पहले से ही सजा रखा था। स्थान-स्थान पर सुन्दरता बढ़ाने वाले स्वागत द्वार बने हुए थे। प्रत्येक घर के द्वार पर बंदनवार बंधे थे और सामने मंगल-कलश रखे थे। सुगंधित पदार्थों से सारा नगर महक रहा था।

इस भांति सजाए नगर के राज-मार्गों से जुलूस के रूप में घुमाते हुए और स्थान-स्थान पर स्वागत सत्कार करते हुए प्रजा ने राजा का राजमहल में प्रवेश कराया। विशेष समय से सूना दिखने वाला राजमहल भी महाराज हरिश्चन्द्र के पदार्पण से शोभित हो उठा। पहले जिस सूने राजमहल को देख-देखकर प्रजा दुःखित होती थी और अनेक स्मृतियां जाग उठती थीं आज उसी महल में राजा रानी और युवराज रोहित के पुनः पधार जाने से प्रजा के आनन्द का पारावार न था।

× × ×

महाराज हरिश्चन्द्र और महारानी तारा आदि के राजमहल में पहुंचने पर विश्वामित्र ने हरिश्चन्द्र से सिंहासन सुशोभित करने की प्रार्थना की और कहा कि राज्यासन पर विराजकर अपने वियोग से व्याकुल प्रजा का दुःख दूर कीजिए।

हरिश्चन्द्र— महाराज यह राज्य आपका है मेरा नहीं। मैं इसे आपको दान में दे चुका हूं। अतएव अब इस पर मेरा कोई अधिकार नहीं है। आप सब लोगों की बात मानकर मैं यहां आया हूं और आपकी कृपा से प्रजा ने मुझे देख लिया और मैंने प्रजा के दर्शन कर लिए हैं। यदि

प्रजा दुखी है तो राजा होने के कारण आप उसका दुख दूर कीजिए।

हरिश्चन्द्र का उत्तर सुनकर प्रजा बहुत दुखी हुई और उनसे पुन राज्य-भार ग्रहण करने की प्रार्थना करने लगी।

इस पर हरिश्चन्द्र ने प्रजा को समझाते हुए कहा— आप लोग ही बतलाए कि क्या दान मे दी हुई चीज वापस ली जाती है ?

प्रजा— नही।

हरिश्चन्द्र— तो जब मैं यह राज्य दान कर चुका हूँ, तो फिर से उसे कैसे ग्रहण कर सकता हू।

हरिश्चन्द्र के इस कथन से निरुत्तर होकर प्रजा चुपचाप आसू बहाने लगी। तब इन्द्र ने प्रजा को सबोधित करते हुए कहा कि महाराज हरिश्चन्द्र पहले मुझसे कह चुके हैं कि मैं दूसरो के हित के कार्य करने के लिए प्राणपण से तैयार हूँ। अत आपसे प्रश्न पूछता हू कि आपका हित विश्वामित्र के राजा रहने में है या महाराज हरिश्चन्द्र के ?

इन्द्र के इस प्रश्न के उत्तर मे प्रजा ने एक स्वर से कहा कि हमारा हित महाराज हरिश्चन्द्र के राज्य करने से ही होगा। हमे जो सुख इनके राज्य मे मिला और भविष्य मे मिलेगा, वैसा सुख विश्वामित्र के राज्य मे नहीं मिला और न मिलने की आशा है।

प्रजा का उत्तर सुनकर इन्द्र पुन महाराज हरिश्चन्द्र से कहने लगे— प्रजा आपसे प्रसन्न है और आपके राज्य करने से सुख की आशा करती है तो इस दशा मे और वह भी ऐसे समय मे जब विश्वामित्र स्वय ही आपसे राज्य ले लेने का आग्रह कर रहे हैं, तब आपका राज्य न लेना कदापि उचित नही है। अत आपको यही उचित है कि आप उनकी इच्छानुसार कार्य करें।

हरिश्चन्द्र— परन्तु आप ही कहिए कि जो वस्तु दान मे दी जा चुकी है, क्या उसे फिर लौटा लेना उचित होगा ?

इन्द्र— आपका कहना यथार्थ है, परन्तु मैं पहले ही कह चुका हूँ कि राज्य कर के सुख भोगना एक बात है और प्रजा पर शासन कर के

उसकी रक्षा करना तथा सुख-समृद्धि-सम्पन्न बनाना दूसरी बात है। आपको तो यही दूसरी बात करने के लिए कहा जा रहा है। इसके सिवाय आपने राज्य को दान में दिया है कुमार रोहित ने तो नहीं। विश्वामित्र राज्य कुमार रोहित को देते हैं और रोहित को दिया जा रहा राज्य लेने में कोई हर्ज नहीं है। जब तक रोहित राज्यभार वहन करने के योग्य नहीं हो जाता तब तक उसकी ओर से आप राज्य कीजिए और बाद में उसके योग्य होने पर आप उसे सौंप दीजिए। यदि आप कहें कि दान में दी हुई वस्तु में से कैसे खाएं-पीएं तो इसका उत्तर यह है कि संसार में कोई भी मनुष्य बिना खाए-पीए काम कर नहीं सकता है। जब आप बिके हुए थे तब भी आप अपने खरीददार के यहां खाते-पीते ही थे। इसी प्रकार यहां भी कीजिए। अब प्रजा को इस प्रकार दुःख-मग्न ही रहने देना आप जैसे सत्यवादी के लिए उचित नहीं है।

इस विश्वामित्र प्रजा और अपने कष्टदाता देव आदि के अनुनय-विनय करने और समझाए-बुझाए जाने पर विवश होकर हरिश्चन्द्र ने रोहित के वयस्क होने तक राज्य संभालना स्वीकार किया।

महाराज हरिश्चन्द्र की पुनः शासन करने की स्वीकृति प्राप्त होते ही समस्त प्रजा आनंद-मग्न हो गई और हरिश्चन्द्र-तारा के जयघोषों से संपूर्ण राजमहल गूंज उठा।

काशी को प्रस्थान करने के पूर्व ही विश्वामित्र मंत्रियों को राज्याभिषेक की सामग्री तैयार रखने की आज्ञा दे गए थे। तदनुसार विधि सहित हरिश्चन्द्र तारा और कुमार रोहित को राजसी वस्त्रालंकारों से सुसज्जित किया गया तथा अवध का राजमुकुट पुनः हरिश्चन्द्र के मस्तक पर शोभित होने लगा। यह सब हो जाने के बाद रानी और कुमार सहित महाराज हरिश्चन्द्र सिंहासन पर बैठाये गए और विश्वामित्र ने राजा के हाथ में राजदंड सौंप दिया। प्रजा उनकी जय-जय बोलने लगी तथा बन्दीजन यशोगान करने लगे। विविध प्रकार के वाद्यों से सारा आकाश गूंज उठा।

सब लोगो ने यथाविधि, यथाशक्ति भेटें प्रस्तुत की और महाराज हरिश्चन्द्र ने उन सबका यथोचित आदर-सत्कार किया।

राज्याभिषेक का कार्य सम्पन्न हो जाने के पश्चात सभा-मच पर खडे होकर इन्द्र कहने लगे — एक दिन वह था जब मैंने अपनी सभा मे महाराज हरिश्चन्द्र के सत्य की प्रशसा की थी और एक दिन आज का है जबकि मैं उनके सन्मुख ही उनकी प्रशसा करने के लिए खडा हू। पूर्व मे मेरे द्वारा की गई प्रशसा वैसी ही थी जैसे सोने के केवल रग-रूप को देखकर सोना कहना और आज जो प्रशसा कर रहा हू वह सोने को तपाकर, कूटकर और काटकर परीक्षा करने के बाद सोना कहना जैसी है। यद्यपि मैं यह जानता हू कि महाराज हरिश्चन्द्र अपने कर्तव्य-मार्ग पर महारानी तारा की सहायता से ही स्थिर हो सके हैं और उन्हीकी सहायता से वे सत्य-पालन मे समर्थ हुए हैं। लेकिन इसके साथ ही मुझे यह भी मालूम है कि भारत की ललनायें अपने पति के होते हुए अपनी प्रशसा की इच्छुक नही रहती। वे जो कुछ भी सत्कार्य करती हैं उसका श्रेय पति को ही देती हैं और पति की प्रशसा मे प्रसन्न होती हैं तथा पति के गौरव को ही अपना गौरव समझती हैं। इसलिए मैं महारानी तारा की पृथक्-से प्रशसा न करके केवल महाराज हरिश्चन्द्र की ही प्रशसा करता हूँ, जिनकी वे अर्धांगिनी हैं।

महाराज हरिश्चन्द्र के विषय में कुछ भी कहने से पहले मैं इस भारत और अयोध्या की भूमि की जितनी भी प्रशसा करू, वह कम है। जिसमे महाराज हरिश्चन्द्र जैसे सत्यधारी राजा विराजते हैं और जिनकी प्रजा भी सत्य-पालन मे उनका अनुकरण करती है।

यद्यपि महाराज हरिश्चन्द्र के सत्य-पालन की महिमा का पूर्ण-रूप से वर्णन करने मे तो मैं समर्थ नही हू, तथापि इतना मैं अवश्य ही कहूगा कि महाराज हरिश्चन्द्र ने धर्म के मर्म को समझ कर ही इतनी कष्ट-सहन की तपस्या की है। साधारण मनुष्य तो इन पर पडे सकटों को सुनकर ही घबरा जाएगा। परन्तु उनको भी ये धैर्य-पूर्वक सहते रहे

और अपने सत्य से विचलित नहीं हुए। यही कारण है कि आज मनुष्य-लोक में ही नहीं किन्तु देवलोक में भी इनके सत्य की और साथ साथ इनकी प्रशंसा हो रही है। यदि महाराज हरिश्चन्द्र के समान सत्यधारी राजा न होते तो मैं नहीं कह सकता कि देवलोक में देवगण सत्य के लिए किसका आदर्श सामने रखकर सत्य के गीत गाते। महाराज हरिश्चन्द्र के सत्य पर मुग्ध होकर मेरा हृदय यही कहता है कि सत्य-रहित राजत्व की अपेक्षा ऐसे सत्यधारी का दासत्व भी कई गुना श्रेष्ठ है। सत्य-रहित राज्य नरक की ही प्राप्ति कराएगा लेकिन सत्य-सहित दासत्व आत्मा को उच्चतम अवस्था में पहुंचाएगा।

अंत में मैं आशीर्वाद देता हूं कि महाराज हरिश्चन्द्र और इनके सत्य की कीर्ति आकाश की तरह अनंत और अटल बनी रहे। जिस सत्य पर विश्वास कर के महाराज हरिश्चन्द्र ने इतने कष्ट सहे हैं और जिनके प्रताप से आज इनकी कीर्ति दिग्-दिगन्त में व्याप्त हो रही है, उस सत्य पर विश्वास करने वाले और पालन में कष्ट से भयभीत न होने वाले लोग निश्चय ही शुभगति को प्राप्त करेंगे।

इस प्रकार सत्य और महाराज हरिश्चन्द्र की प्रशंसा कर के इन्द्रादि सब देव हरिश्चन्द्र से आज्ञा मांगकर देवलोक को गए और विश्वामित्र वन को चले गए।

३०. आत्मकल्याण के मार्ग पर

आज महाराज हरिश्चन्द्र और महारानी तारा के प्राप्त होने से प्रजा मे अपूर्व आनद था। सारा नगर प्रफुल्लित हो उठा और उसके निवासी कई दिन तक उत्सव मनाते रहे। ससार के नियमानुसार यह सच है कि इच्छित वस्तु के प्राप्त होने पर हृदय को अपार आनद होता है।

सब लोगो को विदा कर के महाराज हरिश्चन्द्र राज-काज मे सलग्न हुए। राज्य मे महाराज के नाम ढिढोरा पिट जाने तथा गगन-स्पर्शी ध्वजा फहराने से राज्य मे चोर-लपटादि सूर्योदय मे तारों के समान छिप गए। सब लोग अपने-अपने कर्तव्यो का पूर्ववत् पालन करने लगे और अपने राजा को आदर्श मानकर सत्य पर दृढ़ रहने लगे। थोडे ही दिनो मे सारी प्रजा पुन सुख-समृद्धि-सम्पन्न हो गई।

पूर्ववत् राजा होने पर भी महाराज हरिश्चन्द्र ने राज्य की आय से स्वय किंचित् भी लाभ नही उठाया। वे अपने तथा रानी के भरण-पोषण के लिए पृथक् से निजी उद्योग करते और उसी से अपना जीवन-निर्वाह करते थे।

महाराज हरिश्चन्द्र ने अत्यन्त न्याय-पूर्वक राज्य किया। उनके राज्य मे अन्याय का तो नाम भी कोई नही जानता था और प्रजा सुखी थी। कहीं भी दुर्भिक्ष या महामारी का नाम तक सुनाई नही देता था। प्रजा यह नही समझती थी कि दरिद्रता का दुःख कैसा होता है। जनता की आर्थिक स्थिति अच्छी ही थी। परस्पर मे अच्छा स्नेह था और कोई किसी को नही सताता था।

राज्य में अतिवृष्टि नही होती थी। शीतल मद पवन मथर गति से बहा करता था और षड्ऋतुओं का कालक्रम यथासमय चलता

रहता था। भूमि सदा हरी-भरी रहती थी और उत्तमोत्तम धान्य उत्पन्न हुआ करते थे। वन के वृक्ष फल-फूलों से लदे रहते थे और घी-दूध की नदियाँ बहती रहती थीं। इस प्रकार महाराज हरिश्चन्द्र का राज्य बड़ा ही सुखदायक था। सदा दिशाओं में सर्वत्र आनन्द व्याप्त रहता था मानो यह उनके व उनकी प्रजा के आधीन ही हो।

पहले के लोग अपनी समस्त आयु को संसार के प्रपंचों में ही नहीं बिताते थे अपितु आयु का अंतिम एक भाग आत्म-कल्याण में लगाते थे। वैसे तो गृहस्थी में रहते हुए भी वे आत्म-कल्याण की ओर ले जाने वाले कार्य किया करते थे परन्तु आयु का अंतिम भाग तो निश्चित रूप से इसी कार्य में लगा दिया करते थे और इसीलिए उन्होंने आयु को चार भागों में विभक्त कर रखा था। जिसके प्रथम भाग में वे ब्रह्मचर्य पालन करते के साथ-साथ विद्योपार्जन किया करते थे। दूसरे भाग में गृहस्थाश्रम का संचालन करते थे। तीसरे भाग में संसार-त्याग का अभ्यास करते थे और चौथे भाग में संसार से विरक्त होकर आत्मचिन्तन में तल्लीन हो जाते थे। इन नियमों का पालन न करने वाला घृणा की दृष्टि से देखा जाता था और सांसारिक कार्यों में फंसे हुए ही मरना एक लज्जा व कायरोचित बात मानी जाती थी। उनका सिद्धान्त था कि—

> अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया।
> वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून्॥
> व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुल परितापाय मनसः।
> स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति॥

विषयों को हम चाहे जितना भोगें चाहे जितना प्यार करें किन्तु एक दिन वे निश्चय ही हमसे अलग हो जाएंगे तब हम स्वयं अपनी इच्छा से ही उन्हें क्यों न छोड़ दें? क्योंकि जब वे विषय हमको छोड़ेंगे तब हमें बड़ा दुःख और मन को क्लेश होगा और यदि हम उनको छोड़ देंगे तो हमें अनन्त सुख व शांति प्राप्त होगी।

यद्यपि महाराज हरिश्चन्द्र और महारानी तारा की युवावस्था व्यतीत हो चुकी थी परन्तु तेजस्वी होने के कारण युवावस्था के अवसान होने के कोई चिह्न उनके शरीर पर दिखलाई नही देते थे। लेकिन वे आज के मनुष्यो की तरह न थे जो बुढापे को भी जवानी मानकर गृहस्थी मे ही फसे रहते। आज के मनुष्य तो शिथिल इन्द्रियो को पुन जागृत करने तथा श्वेत केशो को पुन श्याम बनाने के लिए औषधियो का प्रयोग करते हैं, परन्तु उस समय के मनुष्य गृहस्थी छोडकर तपस्या मे तल्लीन हो जाते थे। इसी के अनुसार महाराज हरिश्चन्द्र और महारानी तारा ने भी गृह-त्याग का विचार किया। इधर रोहित भी समझदार हो चुके थे और राज्य-कार्य सभालने की योग्यता भी उनमे आ चुकी थी। अत उन्होने राज्य-त्याग करना उचित समझा।

राज्य त्याग का विचार कर के महाराज हरिश्चन्द्र ने रोहित के राज्याभिषेक की तैयारी करवाई। प्रजा भी अपने प्रिय राजा-रानी के विचारो से सहमत हुई और उसमें से बहुतेरे राजा-रानो के ससार-त्याग के कार्य का अनुकरण करने को तैयार हुए।

"यथा राजा तथा प्रजा" इस कहावत के अनुसार प्रजा उन कार्यों को विशेष रूप से अपनाती है जिन्हे राजा करता है। राजा के प्रत्येक कार्य का प्रजा अनुकरण करने लगती है, फिर चाहे वे कार्य अच्छे हो या बुरे। अच्छे या बुरे कार्य का भार राजा के ऊपर समझकर जिन कार्यों को राजा करता है, उन्हें करने मे प्रजा किंचित् भी नही हिचकिचाती। इसलिए पहले के राजा प्रत्येक कार्य ऐसे रूप में करते थे, जिनका अनुसरण करने से प्रजा को लाभ अवश्य हो। झूठ, व्यभिचार आदि बुरे कार्यों को वे अपने पास भी नही फटकने देते थे। यही कारण था कि राजा के कार्यों का अनुसरण करनेपर प्रजा इहलौकिक आनद प्राप्त करने के साथ-साथ पारलौकिक आनद भी प्राप्त करती थी।

निश्चित समय पर महाराज हरिश्चन्द्र ने कुमार रोहित का राज्याभिषेक किया। कुमार रोहित के राजा होने पर सपूर्ण प्रजा प्रसन्न

माता-पिता आदि को वन की ओर विदा करके प्रजा सहित महाराज रोहित वापस नगर में लौट आए। प्रजा महाराज रोहित के राज्याभिषेक और महाराज हरिश्चन्द्र आदि के दीक्षा धारण करने के उपलक्ष में कई दिन तक आनंदोत्सव मनाती रही।

महाराज रोहित अपने पिता की ही तरह सत्य और धर्म की रक्षा करते हुए न्याय-पूर्वक राज्य करने लगे। जिससे प्रजा को महाराज हरिश्चन्द्र के राज्य-त्याग से किंचित् भी दुःख नहीं हुआ।

उपसंहार

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि चरित्र कहने-सुनने का तात्पर्य यही है कि उसमे वर्णित अच्छे कार्यों का अनुसरण करें और बुरे कार्यों का त्याग किया जाए। इस कथन का तात्पर्य यह भी नही है कि महाराज हरिश्चन्द्र और महारानी तारा के चरित्र का अनुकरण करने के लिए आप लोग भी अपने गृहादि का दान कर दें या दूसरो के दास होकर रहे। यदि सत्य के लिए ऐसा भी हो सके तब तो अच्छा ही है लेकिन ऐसा न हो सकने के कारण सत्य से ही वचित रहना उचित नहीं है। जिस आकाश मे गरुड पक्षी उडता है, उसी मे एक पतगे को भी उडने का अधिकार है। यह बात दूसरी है कि वह उडने मे गरुड की समानता न कर सके, लेकिन इसी कारण उडना वद नही करता। इसी तरह जिस सत्य को महाराज हरिश्चन्द्र और महारानी तारा जैसे उच्च-व्यक्तियो ने पाला है, उसी सत्य को साधारण-से-साधारण मनुष्य भी पाल सकता है। यह बात दूसरी है कि आज के मनुष्य उनकी तरह त्याग न दिखा सकें, लेकिन इसी कारण सत्य का पालन नहीं करना कदापि उचित नही कहला सकता। उन्होंने भयकर से-भयकर कष्टो को सहते हुए भी सत्य न छोडा तो उनके आदर्श को सन्मुख रखकर कम-से-कम आप साधारण कष्टो से भयभीत हो सत्य को नही छोडें या जहा कष्ट होने का कोई भय नहीं है, वहा तो सत्य का त्याग कदापि न करें।

महाराज हरिश्चन्द्र और महारानी तारा के सत्य-पालन मात्र से ही आपको कोई लाभ नही हो सकता है। उसका लाभ तो उन्ही को मिला। किन्तु आपको तो लाभ तभी हो सकता है जब आप स्वय सत्य का उपयोग करें। कार्यों का अच्छा या बुरा फल कर्ता को ही प्राप्त होता

हो उठी और महाराज हरिश्चन्द्र की प्रशंसा करने लगी। राज्याभिषेक की समस्त विधियों के संपन्न हो जाने पर रोहित को राजदंड सौंपते हुए महाराज हरिश्चन्द्र ने कहा— आज मुझे बड़े हर्ष की बात है कि मैं राज्य और गृहस्थी का भार कुमार रोहित को सौंपकर महारानी तारा सहित शेष जीवन आत्मचिन्तन में व्यतीत करने के लिए वन में जा रहा हूँ। यद्यपि रोहित स्वयं एक चतुर और प्रजाप्रिय शासक सिद्ध होंगे तथापि पिता होने के कारण मेरा कर्तव्य है कि इन्हें शिक्षा के दो शब्द कहूँ। इसलिए मैं रोहित को यह शिक्षा देता हूँ कि राजा के लिए प्रजा पुत्रवत् है। जिस प्रकार पुत्र के सुख-दुःख आदि का ध्यान रखना पिता का कर्तव्य है, उसी प्रकार राजा का भी कर्तव्य है कि वह प्रजा के सुख-दुःख की चिन्ता रखकर उसका दुःख दूर करे। जो राजा अपनी प्रजा का दुःख दूर करने में असमर्थ होता है या इस ओर उपेक्षा-भाव रखता है, वह अयोग्य समझा जाता है। इसलिए राजा को प्रजा का दुःख दूर करने में कदापि शिथिलता न करनी चाहिए। प्रजा के सुखी रहने पर ही राजा सुखी रह सकता है। इसके सिवाय प्रत्येक व्यक्ति का मान-माल से संभाल करना भी राजा का कर्तव्य है। जो राजा दान करना और मांगने वालों का संभाल करना नहीं जानता वह भी अयोग्य माना जाता है।

अंत में सबसे महत्वपूर्ण बात यही कहता हूँ कि राज्य चाहे चला जाए परन्तु सत्य और धर्म को कदापि हाथ से न जाने देना। सत्य और धर्म के रहने पर अन्य सब वस्तुएं पुनः प्राप्त हो सकती हैं परन्तु इनके न रहने पर संसार की सब जड़ वस्तुएं किसी काम की नहीं हैं और वे सब इस लोक में ही दुःखदाता होंगी ही और साथ-साथ परलोक में भी दुःखदाता होंगी।

मैं प्रजा को रोहित के और रोहित को प्रजा के हाथों सौंप रहा हूँ। आशा है कि दोनों एक-दूसरे से सहयोग रखकर सत्य धर्म न्याय-नीति पूर्वक राज्य की व्यवस्था करेंगे। इसके सिवाय और विशेष क्या कहूँ।

राजा का कथन समाप्त होते ही प्रजा ने हर्षपूर्वक महाराज हरिश्चन्द्र, महारानी तारा और नवाभिषिक्त महाराज रोहित की जय-जय ध्वनि की।

अनतर रोहित ने सिंहासन पर से खडे होकर कहा कि मेरे पूज्य पिता महाराज हरिश्चन्द्र ने मुझे जो कुछ भी शिक्षा दी है, उसका मैं जीवन-पर्यन्त पालन करूगा और अपने गुरुजनो से आशीर्वाद मागते हुए प्रजाजनो से आशा करता हू कि वे मेरे राज्य-कार्यों मे पहले की तरह सहयोग देकर राज्य को सुख-सपन्न बनाने मे सहभागी बनें। जिससे हम सबका कल्याण होवे।

एक वार पुन प्रजा ने महाराज हरिश्चन्द्र, महारानी तारा और रोहित की जय-जयध्वनि की।

इसके बाद वन जाने के लिए महाराज हरिश्चन्द्र महारानी तारा और नव-अभिषिक्त महाराज रोहित के साथ वन जाने के लिए महल से निकलकर बाहर आए, जहा उनका अनुसरण करने के लिए अनेक स्त्री-पुरुष प्रतीक्षा मे खडे थे। वन जाने के लिए वे उनके साथ नगर के बाह्य भाग की ओर चल दिए।

नगर के बाहर आकर उन सभी आगत स्त्री-पुरुषो के साथ हरिश्चन्द्र और तारा ने भागवती दीक्षा धारण की। महाराज रोहित तथा प्रजा उनको राजसी वेश का परित्याग कर साधुओ के वेश मे परिणत देखकर उनकी जय-जयकार करने लगी और अपने सहयोगी स्त्री-पुरुषो सहित हरिश्चन्द्र तथा तारा दो भागो मे विभक्त होकर आत्म-चिन्तन मे लीन होने के लिए वन की ओर चल दिए। उन्होंने वन मे पहुचकर बारह भावनाओ का चिन्तवन कर खूब तपस्या की और शुक्ल-ध्यान का ध्यान कर केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। चार घाती कर्म का उच्छेद कर अरिहत दशा को प्राप्त हुए तथा शेष चार अघाती कर्मो का समूलोच्छेद कर आयु के अत मे शाश्वत सुख के धाम अजर, अमर सिद्ध पद को प्राप्त हुए।

माता-पिता आदि को वन की ओर विदा करके प्रजा सहित महाराज रोहित वापस नगर में लौट आए। प्रजा महाराज रोहित के राज्याभिषेक और महाराज हरिश्चन्द्र आदि के दीक्षा धारण करने के उपलक्ष्य में कई दिन तक धार्मोत्सव मनाती रही।

महाराज रोहित अपने पिता की ही तरह सत्य और धर्म की रक्षा करते हुए न्याय-पूर्वक राज्य करने लगे। जिससे प्रजा को महाराज हरिश्चन्द्र के राज्य-त्याग से किंचित् भी दुःख नहीं हुआ।

उपसंहार

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि चरित्र कहने-सुनने का तात्पर्य यही है कि उसमे वर्णित अच्छे कार्यों का अनुसरण करें और बुरे कार्यों का त्याग किया जाए। इस कथन का तात्पर्य यह भी नही है कि महाराज हरिश्चन्द्र और महारानी तारा के चरित्र का अनुकरण करने के लिए आप लोग भी अपने गृहादि का दान कर दें या दूसरो के दास होकर रहें। यदि सत्य के लिए ऐसा भी हो सके तब तो अच्छा ही है लेकिन ऐसा न हो सकने के कारण सत्य से ही वचित रहना उचित नहीं है। जिस आकाश में गरुड पक्षी उडता है, उसी मे एक पतगे को भी उडने का अधिकार है। यह बात दूसरी है कि वह उडने मे गरुड की समानता न कर सके, लेकिन इसी कारण उडना बद नही करता। इसी तरह जिस सत्य को महाराज हरिश्चन्द्र और महारानी तारा जैसे उच्च-व्यक्तियो ने पाला है, उसी सत्य को साधारण-से-साधारण मनुष्य भी पाल सकता है। यह बात दूसरी है कि आज के मनुष्य उनकी तरह त्याग न दिखा सकें, लेकिन इसी कारण सत्य का पालन नही करना कदापि उचित नही कहला सकता। उन्होने भयकर-से-भयकर कष्टों को सहते हुए भी सत्य न छोडा तो उनके आदर्श को सन्मुख रखकर कम-से-कम आप साधारण कष्टो से भयभीत हो सत्य को नही छोडें या जहा कष्ट होने का कोई भय नहीं है, वहा तो सत्य का त्याग कदापि न करें।

महाराज हरिश्चन्द्र और महारानी तारा के सत्य-पालन मात्र से ही आपको कोई लाभ नही हो सकता है। उसका लाभ तो उन्ही को मिला। किन्तु आपको तो लाभ तभी हो सकता है जब आप स्वय सत्य का उपयोग करें। कार्यो का अच्छा या बुरा फल कर्ता को ही प्राप्त होता

माता-पिता आदि को वन की ओर विदा करके प्रजा सहित महाराज रोहित वापस नगर में लौट आए। प्रजा महाराज रोहित के राज्याभिषेक और महाराज हरिश्चन्द्र आदि के दीक्षा धारण करने के उपलक्ष्य में कई दिन तक आनंदोत्सव मनाती रही।

महाराज रोहित अपने पिता की ही तरह सत्य और धर्म की रक्षा करते हुए न्याय-पूर्वक राज्य करने लगे। जिससे प्रजा को महाराज हरिश्चन्द्र के राज्य-त्याग से किंचित् भी दुःख नहीं हुआ।

उपसंहार

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि चरित्र कहने-सुनने का तात्पर्य यही है कि उसमे वर्णित अच्छे कार्यों का अनुसरण करें और बुरे कार्यों का त्याग किया जाए। इस कथन का तात्पर्य यह भी नहीं है कि महाराज हरिश्चन्द्र और महारानी तारा के चरित्र का अनुकरण करने के लिए आप लोग भी अपने गृहादि का दान कर दें या दूसरों के दास होकर रहें। यदि सत्य के लिए ऐसा भी हो सके तब तो अच्छा ही है लेकिन ऐसा न हो सकने के कारण सत्य से ही वंचित रहना उचित नहीं है। जिस आकाश मे गरुड पक्षी उडता है, उसी में एक पतंगे को भी उडने का अधिकार है। यह बात दूसरी है कि वह उडने में गरुड की समानता न कर सके, लेकिन इसी कारण उडना बंद नहीं करता। इसी तरह जिस सत्य को महाराज हरिश्चन्द्र और महारानी तारा जैसे उच्च व्यक्तियो ने पाला है, उसी सत्य को साधारण-से-साधारण मनुष्य भी पाल सकता है। यह बात दूसरी है कि आज के मनुष्य उनकी तरह त्याग न दिखा सकें, लेकिन इसी कारण सत्य का पालन नहीं करना कदापि उचित नही कहला सकता। उन्होने भयकर से-भयकर कष्टों को सहते हुए भी सत्य न छोडा तो उनके आदर्श को सन्मुख रखकर कम-से-कम वे साधारण कष्टो से भयभीत हो सत्य को नही छोडें या जहा कष्ट होने का कोई भय नही है, वहा तो सत्य का त्याग कदापि न करें।

महाराज हरिश्चन्द्र और महारानी तारा के सत्य-पालन मात्र से ही आपको कोई लाभ नहीं हो सकता है। उसका लाभ तो उन्हीं को मि[illegible] किन्तु आपको तो लाभ तभी हो सकता है जब आप स्वय उपयोग करें। कार्यों का अच्छा या बुरा फल कर्ता को ही प्राप्त

है, दूसरे को नहीं। कर्त्ता के अच्छे कार्यों को सुन लेने मात्र से सुनने वालों को लाभ नहीं होता है। लाभ तो उस अच्छाई को ग्रहण करने और तदनुसार आचरण करने से ही होता है।

इस चरित्र का वर्णन इसी आशय से किया गया है कि मनुष्य सत्य के महत्त्व को समझकर असत्य से दूर रहें। महाराज हरिश्चन्द्र महारानी तारा ने जिस सत्य के द्वारा अपने जीवन का कल्याण कि है, उस सत्य को अपनाने वाले का सदा कल्याण-ही-कल्याण है।